श्री जिनदत्तसूरि प्राचीन पुस्तकोद्धार फण्ड (सुरत) ग्रन्थाङ्क—५३

॥ अर्हम् ॥

श्री खरतरगच्छेश्वर जंगम युगप्रधान भट्टारक शासन
प्रभावक दादा श्री जिनदत्तसूरीश्वर
विरचित

चर्चर्यादि ग्रंथ संग्रह

भाषान्तर सह

अनुवादक—
आचार्य श्रीजिनहरिसागर सूरि

जैनाचार्य श्रीमज्जिनकृपाचन्द्रसूरिजी के शिष्य उपाध्याय मुनि
सुखसागरजी के उपदेश से जीयागञ्ज निवासी सुश्रावक बाबू
गोविन्दचन्दजी भूरा के द्रव्य साहाय द्वारा प्रकाशित।

प्रकाशक—
श्री जिनदत्त सूरि ज्ञान भण्डार
सूरत।

सं० २००४] भेट [मू० ५००

पता—
श्री जिनदत्त सूरि ज्ञान भण्डार
ठि० गोपीपुरा, सीतलवाडी, उपासरा।
मु० सूरत (गुजरात)

पता—
बाबू गोविन्दचन्दजी भूरा
पो० जियागंज (मुर्शिदाबाद)
एवं
६६, नलिनी सेठ रोड, कलकत्ता।

मुद्रक —
एन० एम० सुराना
सुराना प्रिन्टिङ्ग वर्क्स,
कलकत्ता।

प्रकाशक की ओर से—

आज मैं अतीव हर्ष और आनन्दका अनुभव कर रहा हूं कि हमारी ग्रन्थ-माला के साथ जो प्रातः स्मरण आचार्य महाराज श्री जिनदत्त सूरिजी का नाम सम्बद्ध है उन्हीं के द्वारा रचे गये ग्रन्थोंका हिन्दी अनुवाद प्रकाशित करने का महत्वपूर्ण सुअवसर प्राप्त हुआ है।

इन सम्पूर्ण ग्रन्थोंका हिन्दी अनुवाद आचार्य वर्य्य श्री जिनहरिसागर सूरिजी के समक्ष पूर्वक किया है। इन ग्रन्थोंको पढ़ने से मालूम हुए बिना न रहेगा कि आचार्य महाराजजी ने अपने बड़े आलोचक और समय की बुरी प्रथाओं पर पूर्ण सक्रोध प्रहार करने में पक्ष थे। उन दिनों चैत्यवासी समाज का आधिपत्य था, उनका समस्त आचरण जैन संस्कृति पर कलङ्क स्वरूप था। अतः युगकी जलती हुई समस्या आचार्य श्रीको सरल करनी ही पड़ी और इसीमें रहकर अमृतमयी वाणीसे मलाई भी।

अनुवादक महोदय को हम हार्दिक धन्यवाद देनेके साथ पाठकों से कर बद्ध प्रार्थना करते हैं कि वे इस अनुवादक ग्रन्थ समूह को हंसक्षीर न्याय से पढ़ें।

प्रकाशक —

श्रीजिनदत्तसूरि--प्राचीन--पुस्तकोद्धार--फण्डद्वारा मुद्रितपुस्तकें

गणधरसार्धशतकं	सामाचारीशतकम्
खरतरप्रकरणम्	कल्पसूत्र---कल्पलताव्याख्या
जयतिहुअणवृत्ति	प्राकृतव्याकरण
दिवालीकल्प	विधिमार्गप्रपा
प्रश्नोत्तरसार्धशतकम्	सप्तस्मरणटीका
विशेषशतक	गाथासहस्री
संदेहदोलावलीवृत्ति	अतिमुक्तकमुनिचरित्रम्
पचलिंगीप्रकरणम्	गणधरसार्धशतकलघुवृत्ति
चैत्यवन्दनकुलकवृत्ति	पुण्यसारकथानकम्
अनुयोगद्वारसूत्र मूल	युगप्रधानचतुष्पदिका
कल्पद्रुमकलिका भाषांतर	कल्पसूत्र कल्पद्रुम कलिका टीका
संवेगरंगशाला भा० १	चर्चर्यादि ग्रन्थ संग्रह-
श्रीपालचरित्रप्राकृत-भाषांतर	भाषांतर
द्वादशपर्वव्याख्यान भाषा	पंच प्रतिक्रमण
जीवविचारादि प्रकरण भाषा	(विधि सहित)
कल्याणमंदिरस्तोत्रटीका	राइ देवसि प्रति०
भक्तामरस्तोत्रटीका	(विधि सहित)
द्वादशकुलकविवरण	जैन दर्शन पोथि
षट्स्थानप्रकरणम्	रत्नाकर पचीसी
धन्यशालिभद्रचरित्रम्	स्तवन संग्रह (भा०)
धन्यचरित्रम्	गजल संग्रह (भा० १)

पुस्तकप्राप्तिस्थानम्—

श्री जिनदत्तसूरि ज्ञानभण्डार,

गोपीपुरा, सीतलवाडी उपासरा, मु० सुरत ।

द्रव्य सहायक —

जीयागंज निवासी धर्मप्रेमी

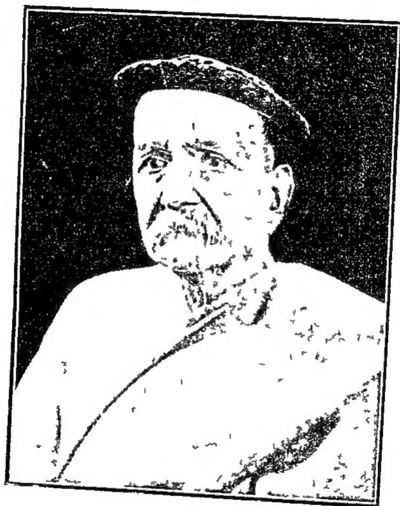


श्री मान बाबू गोविन्दचन्दजी भूरा

कलकत्ता।

द्रव्य सहायक —

जीयागंज निवासी धर्मप्रेमी



श्री मान् बाबू गोविन्दचन्दजी भूरा

कलकत्ता।

श्री जिनदत्तसूरि प्राचीन पुस्तकोद्धार फण्ड (सुरत) ग्रन्थाङ्क—५३

ॐ अर्हं नमः

सुविहित शिरोमणि अष्टम युगप्रधान भट्टारक श्री

श्री श्री १००८ श्रीमज्जिनदत्तसूरीश्वर विरचिता

सर्वतन्त्र स्वतन्त्र-सर्वहरल्प-सुविहितविधिविधान प्रधान प्रचारक—महाकवि

श्री श्री १००८ श्री मज्जिनवल्लभसूरीश्वर स्तुति रूपा—

चर्चरी

अनुवादक—जैनाचार्य श्रीमज्जिनहरिसागरसूरिजी

नमिवि जिणेसरधम्मह तिहुयणसामियह,
पायकमलु ससिनिम्मलु सिवगयगामियह ।
करिमि जहट्ठियगुणथुइ सिरिजिणवल्लहह,
जुगपवरागमसूरिहि गुणिगणदुल्लहह ॥ १ ॥

अर्थ—त्रिभुवनके स्वामी शिवगतिमे गये हुए, जिनेश्वर श्रीधर्मनाथ स्वामीके चन्द्रके जैसे निर्मल चरण-कमलको नमस्कार करके, उस युगमे प्रधान ज्ञानवाले आचार्य देव गुणि समुदायमें दुर्लभ ऐसे श्रीजिनवल्लभसूरीश्वरजी महाराजके यथास्थित—सत्यगुणोकी स्तुति को मैं करता हू ।

सर्वविद्या प्रधान सर्वविद्या सम्बन्धिनी उनकी स्तुति विरोधालंकारसे बताते हैं—

जो अपमाणु पमाणइ छदरिसण तणइ,
जाणइ जिव नियनामु न तिण जिवा कुवि घणइ ।
परपरिवाइगइंदवियारणपंचमुहु
तसु गुणवन्नणु करण कु सक्कइ इक्कमुहु ? ॥ २ ॥

अर्थ—जो अप्रमाण अर्थात् सर्वथा प्रमाण रहित होते हुए भी छह दर्शनों के प्रत्यक्षादि बहुत प्रमाणोंको अपने नामके जैसे जानते हैं। यहां विरोध रूप यह दीखता है कि जो जो स्वयं अप्रमाण है वह दूसरोंके प्रमाणको किस तरह जान सकता है ? विरोध परिहार इस प्रकार है, कि—जो मान रहित होते हुए, अथवा अपरिमित गुणोंको धारण करनेसे अप्रमाण होते हुए षट् दर्शनोंके बहुत प्रमाणोंको निज नामके समान ऐसे जानते हैं, जैसे दूसरा कोई विद्वान नहीं जानता। जो परवादी रूप मदोन्मत्त हाथियोंको विदारण करनेमें पंचमुख सिंहके समान हैं उन गुरुदेवके गुणवर्णनमें एक मुखवाला कौन समर्थ हो सकता ? अपितु कोई नहीं।

जो वायरणु वियाणइ सुहलक्खणनिलउ,
सद्दु असद्दु वियारइ सुवियक्खणतिलउ ।
सुच्छंदिण वक्खाणइ छंदु जु सुजइमउ,
गुरु लहु लहि पइठावइ नरहिउ विजयमउ ॥ ३ ॥

अर्थ—जो सामुद्रिकोक्त शुभ लक्षणोंके स्थान भूत गुरु, व्याकरण शास्त्रको भली भांति जानते हैं। अच्छे विद्वानोंमें तिलक जैसे जो आचार्य महाराज वैयाकरण होनेसे—शब्दोंको और अपशब्दों को भी अच्छी तरहसे सोचते हैं। जो अच्छे यति विराम स्थानवाले नगण रगण सहित विशिष्ट जगण यगण आदि गणोंवाले छन्दोंके शोभन अभिप्रायसे होते हुए व्याख्यानमें गुरु लघु वर्णों को यथा स्थान प्रतिष्ठित करते हैं, अर्थात् श्रीजिनवल्लभ-सूरीश्वरजी महाराज न्याय व्याकरण और छन्द शास्त्रके प्रकाण्ड विद्वान् थे। [इस श्लोक के तीसरे चौथे चरणोंका अर्थ ऐसे भी हो सकता है कि]—सुयति मान्य जनहितकारी और और विजयी आचार्य महाराज स्वतन्त्रतापूर्वक छन्दोमय व्याख्यान फरमाते हैं, एवं गुणोंमें बड़े छोटे मुनियोंको पाकर उनको यथा स्थान आचार्य उपाध्यायादि पदोंपर प्रतिष्ठित करते हैं। अर्थात् आप मधुर व्याख्यान करते हैं—एवं सामर्थ्य सम्पन्न सूरि सम्राट् थे।

कव्वु अउव्वु जु वियरइ नवरसभरसहिउ
लद्धपसिद्धिहिं सुकइहिं सायरु जो महिउ।
सुकइ माहु ति पससहि जे तसु सुहगुरुहु
साहु न मुणहिं अयाणुय मइजियसुरगुरुहु ॥ ४ ॥

अर्थ—जो नवरस पूर्ण अपूर्व काव्यो की रचना करते हैं, और जो ख्याति प्राप्त सुकवियों से सादर पूजित है। बुद्धि वैभवसे बृहस्पतिको मात देनेवाले उन शुभ गुरु महाराज को भलि प्रकार न जाननेवाले अनजान आदमी ही सुकवि रूप से माघ कवि की प्रशसा करते हैं।

कालियासु कइ आसि जु लोइहिं वन्नियइ,
ताव जाव जिणवल्लहु कइ ना अन्नियइ।
अप्पु चित्तु परियाणहि त पि विशुद्ध न य,
ते वि चित्तकइराय भणिज्जहि मुद्धनय ॥ ५ ॥

अर्थ—कालीदास नामक कवि था उसकी काव्योंमें तबतक ही लोग तारीफ करते हैं जबतक उनने श्री जिनवल्लभसूरि महाराज रूप महाकविके स्वरूप को नहीं सुना है। जो थोड़े से चित्र काव्य को जानते हैं, और वह भी अशुद्ध, भोले भाले लोगों द्वारा माने हुए वैसे कुकवि आश्चर्य है कि कविराज रूप से गाये जाते हैं। यह बात गानेवालोंकी मूर्खता का्व्यहिन्नम मात्र है॥

सुकइविसेसियवयणु जु वप्पइराउकइ
सु विजिणवल्लह पुरउ न पावइ कित्ति कइ।
अवरि अणेयविणेयहिं सुकइ पसंसियहिं,
तकव्वामयलुद्धिहिं निच्चु नमंसियहिं ॥ ६ ॥

अर्थ—सुकवियों द्वारा विशेषित वचन वाले गौडवधादि रूप प्रबन्धों के रचयिता कवि श्री वाक्पतिराज एव दूसरे सुकवि जो अनेक शिष्यों द्वारा प्रशसित होते हैं और उन काव्यामृत लुब्धपुरुषो द्वारा नमस्कृत होते हैं, वे भी श्रीमज्जिनवल्लभसूरीश्वरजी महाराज रूप महाकविके सामने कुछ भी कीर्त्ति को नहीं पाते। इस श्लोकमें पूज्येश्वर की प्रौढ कवित्व शक्ति की स्तुति की गई है।

जिण कय नाणा चित्तइ चित्तु हरति लहु
तसु दसणु विणु पुन्निहिं कउ लब्भइ दुलहु।

लोय--पवाह--पयट्टिहि कोऊहलपिइहि,
कीरतइ फुडदोसइ ससयविरहियहि ।
ताइ वि समइनिसिद्धइ समइकयत्थियहि,
धम्मत्थीहि वि कीरहि बहुजणपत्तियहि ॥१३॥

अर्थ – लोक प्रवादमें प्रवृत्तिवान् कुतूहलप्रिय एव महागीतार्थोंकी आज्ञामें शका न रखनेवाले कुमार्गानुगामिनी कुमति द्वारा कदर्थना पाये हुए, और धर्मको चाहनेवाले लोग भी सिद्धान्त आगमोंमें निषेध किये हुए स्फुट दोषवाले मनुष्यस्वभाव कुतूहलप्रिय होनेसे बहुतसे आदमी जिनको करना चाहते हैं एसे अनुचित कर्तव्योंको कर लेते हैं।

जुगपवरागमु मन्निउ सिरिहरिभद्दपहु,
पडिहयकुमयसमुह पयासियमुत्तिपहु ।
जुग पहाणसिद्धतिण सिरिजिणवल्लहिण
पयडिउ पयडपयाविण विहिपहु दुल्लहिण ॥१४॥

अर्थ—श्रीजिन चैत्यमें शिथिलाचारियों द्वारा प्रवर्तित इन अनुचित गाने बजाने प्रेक्षक आदिका निषेध करते हुए युगप्रधान सिद्धान्त वाले प्रकट प्रतापवाले, पापियोंके लिये दुर्लभ ऐसे श्रीजिनवल्लभसूरीश्वरजीने—युग प्रधान बोधवाले कुमत समूहका प्रतिकार करनेवाले मुक्तिपथका प्रकाश करनेवाले भगवान् श्रीहरिभद्र सूरीश्वरजीको—उपलक्षणसे समस्त प्रवचन प्रभावक आचार्य पुगवोंको माना। एव ऐसा करते हुए जिनने विधि मार्ग को प्रकाशित किया।

प्रसंगसे विधि प्रकाशको बताते हैं।

विहि चेईहरु कारिउ कहिउ तमाययणु,
तमिह अणिस्साचइउ कय निव्वुइनयणु ।
विहि पुण तत्थ निवेइय सिवपावणपउण,
ज निसुणेविणु रजिय जिणपवयणनिउण ॥१५॥

अर्थ—जिनने आगम देशना द्वारा प्रतिबोधित श्रावकोंसे विधि प्रधान जिन मंदिर बनवाया। ऐसे चैत्य ही। ज्ञानादि लाभको बढानेवाले-आयतन होते हैं, ऐसा जिनने करवाया। वही साधु आदिकी मालिकीने बिनाका—अनिश्राकृत चैत्य इस ससारमें अपुनराग रूप निर्वृति मुक्तिको करनेवाला और लानेवाला होता है। यथोक्त जिन चैत्य

में मोक्ष पहुचानेमें तत्पर जिनाज्ञा पालन रूप विधि निश्चित रूपसे भव्यात्माओंको जिनने सुनाया, जिसको सुनकर श्री जिनप्रवचनसे चतुर लोक प्रसन्न हो गये।

विधिको ही बताते हैं।

जहि उम्सुतु जणक्कमु कु वि किर लोयणिहिं,
कीरतउ नवि दीसइ सुविहिपलोयणिहिं
निसि न ण्हाणु न पइट्ठ न साहु साहुणिहि,
निसि जुवइहि न पवेसु न नट्टु विलासिणिहिं ॥१६॥

अर्थ—जहाँ-विधि चैत्योंमे उत्सूत्र भाषण करनेवालोंका नन्दि-व्याख्यान आदि, कोई भी आचारक्रम कराता हुआ सुविधि देखनेवाले—दीर्घदृष्टि लोगोंको नहीं दिखाई देता है। रात्रीमे स्नात्र भी नहीं होता है, न प्रतिष्ठा ही होती है। जहाँ रात्रीमे साधु साध्वी या-स्त्रियोका प्रवेश भी नहीं होता, न विलासिनी वेश्याओंका नृत्य ही।

जाइ नाइ न कयग्गहु मन्नइ जिणवयणु,
कुणइ न निंदियकमु न पीडइ धम्मियणु।
विहिजिणहरि अहिगारिइ सो किर सलहियइ,
सुद्धइ धम्मु सुनिम्मलि जसु निवसइ हियइ ॥१७॥

अर्थ—जहाँ जाती-ज्ञातीका स्नात्र पूजा आदिमें इसी जातीवाले या इसी ज्ञातीवाले करा सकते हैं—ऐसा कदाग्रह नहीं होता। इस प्रकारके पुनीत विधि चैत्यके लिये वही अधिकारी प्रशसनीय होते हैं जो जिन वचनोंको मानते हैं। जो निन्दित आचरण नहीं करते। जो धार्मिक जनोंको पीडा नहीं पहुचाते। जिनके हृदयमे शुद्ध सुनिर्मल धर्म निवास करता है

जित्थुति-चउर सुसावय दिट्ठउदव्ववउ,
निसिहिं न नंदि कराबि कुवि किर लेइ वउ।
बलि दिणयरि अत्थमियइ जहि न हु जिण पुरउ
दीसइ धरिउ न सुत्तइ जाहि जणि तूररउ ॥१८॥

अर्थ—जहाँ विधिचैत्यमें तीन-चार सुयोग्य श्रावकोंकी देख रेखमे-देव द्रव्य खर्च किया जाता है। कोई भी [illegible] स्थापन कराकर व्रत नहीं लेता [illegible] अस्त हुए

बाद श्री जिनेश्वर देव सन्मुख धरा हुआ नवेद्य जलि जहाँ नहीं दीखता है। अर्थात् रातमें नैवद्य भी नहीं चढाया जाता, और न लोगोंके सो जानेपर बाजोंका अवाज ही होता है—बाजे रातमें नहीं बजाये जाते।

जहिं रयणिहि रहभमणु कयाइ न कारियइ,
लउडारसु जहिं पुरिमु वि दिंतउ वारियइ।
जहि जलकीडदोलण हु ति न देवयह,
माहमाल न निसिद्धी कय अट्ठाहियह ॥१९॥

अर्थ—जहाँ विधिजिन चैत्योंमें रात्रीमें कभी भी रथ यात्रा नहीं कराई जाती। जहाँ दांडिया रास देते हुए पुरुषोंको भी रोका जाता है। जहाँ जल क्रीडा देवताओंके हिंडोले आदि भी नहीं होते। अष्टाह्निक पूजा करने वालोको मायमालाका निषेध नहीं है।

यद्यपि उपदेश रसायनमें 'मायमाला' करनेका निषेध है। यहाँ जो 'निषेध नहीं है"—लिखा है यह दिगम्बर भक्त नये प्रतिबोध पाये पेल्हक श्रावक आदिके उपरोधसे प्रभूततर दूषणके अभावसे कहा है। उपदेश रसायनोक्त निषेध सर्वदेशीय है यहाँ 'एक देशीय विधि' है।

जहि सावय जिणपडिमह करिहि पइट्ठ न य
इच्छाच्छंद न दीसहि जहि मुद्धगिनय।
जहि उस्सुत्तपयट्टह वयणु न निसुणियइ
जहि अज्जुत्तु जिण-गुरुहु वि गेउ न गाइयइ ॥२०॥

अर्थ—जहाँ विधिचैत्योंमें श्री जिन प्रतिमाओंकी प्रतिष्ठा श्रावक नहीं कराते हैं। जहाँ भोले भक्तों द्वारा वदन कराते हुए स्वच्छाचारी उत्सूत्र भाषी साध्वाभास व्याख्याननादि देते हुए न तो देखे जाते हैं न सुने जाते हैं। जहाँ जिनेश्वर देवोंके या गुरुओंके अयोग्य भजन-गीत गहूँली जिनसे श्री ससारिक वासनाओंकी वृद्धि हो ऐसे—नहीं गाये जाते।

जहिं सावय तंबोलु न भक्खहि लिंति न य
जहि पाणहि य धरंति न सावय सुद्धनय।
जहि भोयणु न य सयणु न अणुचिउ बइसणउ,
सह पहरणि न पवेसु न दुट्ठउ बुल्लणउ ॥२१॥

अर्थ—जहां विधिचैत्योंमें श्रावक न ताम्बूल खाते हैं और न खाते हैं। जहां शुद्धनीति सपन्न श्रावक लोग पैरोंमें जूतेनहीं धारण करते। जहां न भोजन होता है, न सोना होता है, न अनुचित बैठना होता है न शस्त्रोंके साथ प्रवेश होता है और न गाली गलोज आदि दुष्ट बोलना ही होता है ॥२१॥

जहिं न हासु न वि हुड्डु न खिड्डु न रूसणउ,
कित्तिनिमित्तु न दिज्जइ जहिं धणु अपणउ।
करहि जि बहु आसायण जहिं ति न मेलियहि,
मिलिय ति केलि करति समाणु महेलियहिं ॥२२॥

अर्थ—जहां विधिचैत्योंमें न हँसी मजाक की जाती और न होड ही बदी जाती हैं। न जुए आदि खेले जाते हैं और न रोष ही किया जाता है। जहां कीर्तिके लिये न अपना धन ही दिया जाता है, जो बहुत आसातना करते हैं, उन नटविटोंको न इकट्ठा ही किया जाता है। क्यों कि ऐसे लोग कुचेष्टाओंसे स्त्रियोंके साथ क्रीडा कुतूहल करने लगजाते हैं ॥२२॥

जहिं सकति न गहणु न माहि न मडलउ
जहिं सावयसिरि दीसइ कियउ न विंटलउ।
ण्हवणयार जण मिल्लिवि जहि न विभूसणउ
सावयजगिहिं न कीरइ जहि गिहचिंतणउ ॥२३॥

अर्थ—जहां न संक्रांतिमें न ग्रहण[1] में स्नान दान ही होता है न माघ मासमें मडल आदि की रचना ही की जाती है। जहां श्रावकोंके सिरमें पगडा फेटा आदि भी नहीं होता है। स्नात्र कराने वाले मनुष्योंको छोडकर दूसरे लोग जहां विशेष-भूषण नहीं रखते हैं। जहां श्रावक लोग गृहव्यापारकी चिंता भी नहीं करते ॥२३॥

जहिं मलिणचेलगिहिं जिणवरु पूइयइ
मूलपडिम सुइभूइ वि छिवइ न सावियइ।
आरत्तिउ उत्तारिउ ज किर जिणवरह
तपि न उत्तारिज्जइ वीयजिणेसरह ॥२४॥

अर्थ—जहां विधिचैत्योंमें मलिन वस्त्र एवं मलिन शरीरसे जिनेश्वरदेव नहीं पूजे जाते। पवित्र हुई भी श्राविका आकस्मिक स्त्री शरीर धर्मके हो जानेसे महान अनर्थकी संभावनासे मूल नायकजीकी प्रतिमाको स्पर्श नहीं करती है। क्योंकि कहा भी है—आउहिया धरा

[1] ग्रहणमें स्नान और दान करने ... लगता है।

सन्निहिया न खमरा जहाँ पहिमा—किये हुए अपराधको सन्निहित देवता नहीं सहदन करते जैसे प्रतिमा। मूल नायकजी सबके आत्मुदय हेतु होते हैं अत मलनायकजीका स्पर्श स्त्रियाँ नहीं करती हैं। जो आरती एक स्थान पर जिनेश्वर देवके उतार दी जाती है, उसीको दूसरे स्थान पर जिनेश्वर देवके सन्मुख नहीं नहीं उतारी जाती निमाल्य रूप हो जाने से ॥२४॥

जहिं फुल्लइ निम्मलु न अक्खय-चणहलइ
मणिमडणभूसणइ न चेलइ निम्मलइ।
जित्थु न जइहि ममत्तु न जित्थु वि तव्वसणु,
जहिं न अत्थि गुरुदमियनीइहि पम्हसणु ॥२५॥

अर्थ—जहाँ फूल निर्माल्य होते हैं न कि अक्षत—चनफल, और न मणि मण्डित अलंकार या निर्मल वस्त्र हो। जहाँ साधु यह मेरा मन्दिर है ऐसी ममता नहीं रखते हैं। न जहाँ उनका—साधुओंका रहना ही होता है। जहाँ गुरु दर्शित नीतिको भुलाई नहीं जाती। २५।

जहिं पुच्छिय सुसावय सुहगुरुलक्खणइ,
भणिहि गुणन्नुय सच्चय पच्चक्खह तणइ।
जहिं इक्कुत्तु वि कीरइ निच्छइ सगुणउ,
समयजुत्ति विहडन्तु न बहुलोयह तणउ ॥२६॥

अर्थ—जहाँ पूछनेपर गुणज्ञ सुश्रावक सच्चे आत्म प्रत्यक्ष श्रीसद्गुरुमहाराजके शुभ लक्षणोंको बताते हैं। जहा एक भी सुश्रावकका कहा हुआ गुण सम्पन्न कार्य निश्चयपूर्वक किया जाता है, और सिद्धान्त युक्तिसे मेल न रखने वाला बहुतसे लोगोंका कहा हुआ काय नहीं किया जाता। २६।

जहिं न अप्पु वन्निज्जइ परु वि न दूसियइ,
जहिं सग्गुणु वन्निज्जइ विगुणु उवेहियइ।
जहिं किर वत्थु-वियारणि कसु वि न बीहियइ
जहिं जिणवयणुत्तिन्नु न कह वि पयपियइ ॥२७॥

अर्थ—जहाँ न अपनी स्तुति की जाती है न दूसरेको दूषित निन्दित ही किया जाता है। जहाँ गुणवानकी तारीफ की जाती है एव निर्गुणकी उपेक्षा। जहाँ वस्तु विचारणमें—यथार्थ बात कहनेमें किसीका भी भय नहीं माना जाता है। जहाँ कभी भी जिन वचनोंसे उनका हुआ—उत्सूत्र वचन अविधि रूप नहीं बोला जाता है। २७।

इय बहुविह उस्सुत्तइ जेण निसेहियइ,
विहिजिणहरि सुपसत्थिहि लिहिवि निदंसियइ।
जुगपहाणु जिणवल्लहु सो किं न मन्नियइ,
सुगुरु जासु सन्नाणु सुनिउणिहि वन्नियइ ॥२८॥

अर्थ—इस प्रकार बहुतसे उत्सूत्र-अविधि अनुष्ठान विधि निज चैत्योंमें जिनने निषिद्ध कर दिये, एवं चित्तोड़ नरवर नागपुर मरुपुरादि नगरोंके विधि चैत्योंमें सुप्रशस्तियोंमें लिखा लिखाकर प्रचारित करा दिये हैं। जिनका विशिष्ट आगम सयत ज्ञान सिद्धान्तवेदि निपुण महापुरुषों द्वारा प्रशसित किया गया है। ऐसे युग प्रधान सुगुरु श्रीजिनवल्लभसूरीश्वरजी महाराज कैसे न माने जायँ? अवश्यमेव मानने चाहिये ॥२८॥

लवमित्तु वि उस्सुत्तु जु इत्थु पयपियइ,
तसु विवाउ अइथोउ वि केवलि दंसियइ।
ताइ जि जे उस्सुत्तइ कियइ निरंतरइ,
ताह दुरक जे हुंति ति भूरि भवंतरइ ॥२९॥

अर्थ—लव मात्र भी जो उत्सूत्र यहां बोला जाता है उसका विपाक केवलि भगवान द्वारा बहुत अधिक दिखाया जाता है। उन्हीं उत्सूत्र भाषणोंको एव आचरणोंको जो निरन्तर करते हैं, उनके लिये अनन्त भवान्तरोंमें भोगने योग्य दुःख होते हैं ॥ २९ ॥

उत्सूत्र भापकोंकी कुछ चेष्टायें बताते हैं —

अपरिक्खियसुयनिहसिहिं नियमइगव्वियहि,
लोयपवाहपयट्टिहिं नामिण सुविहियइ।
अवरुप्परमच्छरिण निदंसियसगुणिहिं,
पूआविज्जइ अप्पउ जिणु जिव निग्घिणिहिं ॥३०॥

अर्थ—श्रुतज्ञानियोंकी कसौटी द्वारा अपरीक्षित, निज मतिगर्जित, लोक प्रवाहमें प्रवृत्त, नाममात्रके सुविहित, शुद्ध चारित्रियोंके लिये तो कहना ही क्या? आपसके शिथिलाचारियोंमें भी परस्पर मत्सरता रखते हुए अपने गुणोंको दिखानेवाले ऐसे निर्घृण साध्वाभास लोगों द्वारा दूसरोंकी निन्दा करके आत्माको पुजाते हैं ॥ ३१ ॥

इह अणुसोयपयट्टह सख न कु वि करइ,
भवसायरि ति पडंति न इक्कु वि उत्तरइ।

जे पडिसोय पयट्टहि अप्प वि जिय धरह,
अवसय सामिय हुति ति निव्वुइपुरवरह, ॥३१॥

अर्थ– सतारम वनुग्रात–लोक प्रवाहके अनुकूल–सुखशील प्रवृत्तिवालोंकी कोइ गिनती भी नहीं करता है। सुखशीलिये लोग भवसागरमे पडते हैं, एक भी पार नहीं उतरता। जो लोक प्रवाहके प्रतिश्रोत–प्रतिकूल अध्यात्म मार्गमे प्रवृत्त होते हैं वे निश्चय ही मुक्तिपुरके स्वामी हो जाते हैं॥ ३१ ॥

ज आगम-आयरणिहिं सहुँ न विसवयइ,
भणहि त वयणु निरुत्तु न सग्गुणु ज चयइ ।
ते वसनि गिहिगेहि वि होइ तमाययणु,
गइहि तित्थु लहु लब्भइ मुत्तिउ सुहरयणु ॥३२॥

अर्थ—आगम और आचरणके साथ विसवास विपरीतता नहीं रखता ऐसे और निश्चित रूपसे सद्गुण जिसको नहीं छोडते ऐसे वचनका जो बोलते हैं। ऐसे वे साधु गृहस्थके जिस घरमे रहते हैं वह स्थान भी आयतन–ज्ञानादि लाभको बढानेवाला होता है। वहाँ जानेसे मुक्तिके सुखरत्नका भण्डार पाया जाता है। ३२।

विधि चैत्य जो कि अनिश्राकृत होता है उसीके प्रसगसे निश्राकृत चैत्यादिके स्वरूपको बताते हैं—

पासत्थाइविबोहिय केइ जि सावयइ,
कारावहि जिणमदिरु तमइभावियइ ।
त किर निस्साचेइउ अववायिण भणिउ,
तिहि-पव्विहि तहि कीरइ वदणु कारणिउ ॥३३॥

अर्थ—पासत्थादिकों द्वारा प्रतिबोधित कितनेक श्रावक तन्मत भावित चित्तवाले होकर श्रीजिनमदिरको बनाते हैं, उस चैत्यको अपवादमे निश्रा चैत्य कहा गया है। पर्व तिथि अष्टमी चतुर्दशी आदिमे एव पर्यूषणादि पर्वोमे वहां कारणसे वन्दन किया जा सकता है अनिश्राकृत चैत्यके अभावमें। ३३।

अनायतन बतानेकी इच्छावाले निशीथ सूत्रके प्रकारसे बताते हैं—

जहि लिंगिय जिणमदिरि जिणदव्विण कयइ,
मढि वसति आसायण करहिं महतियइ ।

त पकप्पि परिवन्निउ साहम्मियथलिय,
जहिं गय वंदणकज्जिण न सुदसण मिलिय ॥३४॥

अर्थ—जहां मात्र साधु वेशधारी शिथिलाचारि जिन मंदिरमें या जिन द्रव्यसे निर्मित मठमें रहते हैं और भारी आसातना करते हैं। उनको प्रकल्प श्रीनिशीथ अध्ययनमें साधर्मिक स्थली बताया है। वहाँ वन्दनके लिये गये हुए व्यक्ति सुदर्शन सम्यक्त्वको नहीं पाते। ३४।

ओघ निर्युक्ति आदिमें बताये हुए प्रकारसे अनायतन बताते हैं—

ओहनिजुत्तावरसयपयरणदसियउ,
तमणाययणु जु दावइ दुक्खपसंसियउ।
तहिं कारणि वि न जुत्तउ सावयजणगमणु,
तहिं वसति जे लिंगिय ताहि वि पयनमणु ॥३५॥

अर्थ—ओघनिर्युक्ति आवश्यक सूत्र आदि सिद्धान्तोंमें बताया हुआ निश्राकृत चैत्यरूप अनायतन, प्रशंसा करनेवालाको नरकादि गति सम्बंधि दुःखको दिखाता है। अतः यहां कारण होनेपर भी श्रावकोंको जाना युक्त नहीं है। वहाँ जो साध्वाभास रहते हैं उनको पद वन्दन करना भी अयुक्त है। ३५।

वहाँ जानेमें जो दोष लगता है वह बताते हैं—

जाइज्जइ तहि वावि (ठाणि) ति नमियहि इत्थु जइ,
गय नमतजण पावहि गुणगणवुड्ढि जइ।
गइहिं तत्थुति नमतिहि पाउ जु पावियइ,
गमणु नमणु तहि निच्छइ सगुणहि वारियइ ॥३६॥

अर्थ—हाँ? वहाँ जाया जाय? और लिंगधारी चैत्य वासियोंको नमस्कार भी किया जाय?? यदि गये हुए नमस्कार करनेवाले भाविक जन अपने गुण समुदायकी वृद्धि को पाते हो!!! परन्तु वहाँ जानेवाले और नमस्कारको करनेवाले यदि पापको ही पाते हो, तो सद्गुणी गीतार्थों द्वारा वहाँ जाना और चैत्यवासियोंको नमना निश्चय करके रोका गया है। ३६।

चैत्य वासियोंके जैसे ही विवेक वसतिवास करनेवाले भी भावसे अनायतन रूप हैं। अतः उनका अदर्शनीयत्व प्रतिपादन करते हैं—

जे पडिसोय पयट्टहि अप्प वि जिय घरह,
अवसय सामिय हुति ति निव्वुइपुरवरह, ॥३१॥

अर्थ – ससारमें अनुश्रोत – लोक प्रवाहके अनुकूल – सुगशील प्रवृत्तिवालोंकी कोई गिनती भी नहीं करता है। सुगशीलिये लोग भवसागरमे पडते हैं, एक भी पार नहीं उतरता। जो लोक प्रवाहके प्रतिश्रोत – प्रतिकूल अध्यात्म आगम प्रवृत्त होते हैं वे निश्चय ही मुक्तिपुरीके स्वामी हो जाते हैं॥ ३१॥

ज आगम-आयरणिहिं सहुँ न विसयवड,
भणहि त वयणु निरुत्तु न सग्गुणु ज चयइ।
ते वसति गिहिगेहि वि होइ तमाययणु,
गइहि तित्थु लहु लब्भइ मुत्तिउ सुहरयणु ॥३२॥

अर्थ—आगम और आचरणके साथ विसवाद विपरीतता नहीं रखता ऐसे और निश्चित रूपसे सद्‌गुण जिसको नहीं छोडते ऐसे वचनको जो बोलते हैं। ऐसे व साधु गृहस्थके जिस घरमें रहते हैं वह स्थान भी आयतन—ज्ञानादि लाभको बढानेवाला होता है। वहाँ जानेसे मुक्तिके सुखरत्नका भट्ट पाया जाता है। ३२।

विधि चैत्य जो कि अनिश्राकृत होता है उसीके प्रसगसे निश्राकृत चैत्यादिके स्वरूपको बताते हैं—

पासत्थाइविबोहिय केइ जि सावयइ,
कारावहि जिणमदिरु तमइभावियइ।
त किर निस्साचेइउ अववायिण भणिउ,
तिहि-पव्विहि तहि कीरइ वदणु कारणिउ ॥३३॥

अर्थ—पासत्थादिकों द्वारा प्रतिबोधित कितनेक श्रावक तन्मत भावित चित्तवाले होकर श्रीजिनमदिरको बताते हैं, उस चैत्यको अपवादसे निश्रा चैत्य कहा गया है। पर्व तिथि अष्टमी चतुर्दशी आदिम एव पर्यूषणादि पर्वोमे वहाँ कारणसे वन्दन किया जा सकता है अनिश्राकृत चैत्यके अभावमें। ३३।

अनायतन बतानेकी इच्छावाले निशीथ सूत्रके प्रकारसे बताते हैं—

जहिं लिंगिय जिणमदिरि जिणदव्विण कयइ,
मढि वसति आसायण करहिं महतियइ।

त पक्प्पि परिवन्निउ साहम्मियथलिय,
जहिं गय वदणकज्जिण न सुदसण मिलिय ॥३४॥

अर्थ—जहाँ मात्र साधु वेशधारी शिथिलाचारि जिन मंदिरमें या जिन द्रव्यसे निर्मित मठमें रहते हैं और भारी आसातना करते हैं। उसको प्रकल्प श्रीनिशीथ अध्ययनमें साधर्मिक स्थली बताया है। वहाँ वन्दनके लिये गये हुए व्यक्ति सुदर्शन सम्यक्त्वको नहीं पाते। ३४।

ओघ निर्युक्ति आदिमें बताये हुए प्रकारसे अनायतन बताते हैं—

ओहनिजुत्तावस्सयपयरणदसियउ,
तमणाययणु जु दावइ दुक्खपसरियउ।
तहिं कारणि वि न जुत्तउ सावयजणगमणु,
तहिं वमति जे लिंगिय ताहि वि पयनमणु ॥३५॥

अर्थ—ओघनिर्युक्ति आवश्यक सूत्र आदि सिद्धान्तोंमें बताया हुआ निश्राकृत चैत्यरूप अनायतन, प्रशसा करनेवालोंको नरकादि गति सबधि दुःखको दिखाता है। अत यहा कारण होनेपर भी श्रावकोंको जाना युक्त नहीं है। वहाँ जो साध्वाभास रहते हैं उनको पद वन्दन करना भी अयुक्त है। ३५।

वहाँ जानेमें जो दोष लगता है वह बताते हैं—

जाइज्जइ तहि वावि (ठाणि) ति नमियहि इत्थु जइ,
गय नमतजण पावहि गुणगणवुड्ढि जइ।
गइहि तत्थति नमतिहि पाउ जु पावियइ,
गमणु नमणु तहि निच्छइ सगुणहि वारियउ ॥३६॥

अर्थ—हाँ? वहाँ जाया जाय? और लिंगधारी चैत्य वासियोंको नमस्कार भी किया जाय?? यदि गये हुए नमस्कार करनेवाले भाविक जन अपने गुण समुदायकी वृद्धि को पाते हो!!! परन्तु वहाँ जानेवाले और नमस्कारको करनेवाले यदि पापको ही पाते हो, तो सद्गुणी गीतार्थो द्वारा वहाँ जाना और चैत्यवासियोंको नमना निश्चय करके रोका गया है। ३६।

चैत्य वासियोंके जैसे ही कितनेक वसतिवास करनेवाले भी भावसे अनायतन रूप हैं। अत उनका अदर्शनीयत्व प्रतिपादन करते हैं—

जे पडिसोय पयट्टहिं अप्प वि जिय धरइ,
अवसय सामिय हुंति ति निव्वुइपुरवरह, ॥३१॥

अर्थ - संसारमें अनुस्रोत - लोक प्रवाहके अनुकूल—सुखशील प्रवृत्तिवालोंकी कोई गिनती भी नहीं करता है। सुखशीलिये लोग भवसागरमें पड़ते हैं, पर भी पार नहीं उतरता। जो लोक प्रवाहके प्रतिस्रोत—प्रतिकूल अध्यात्म मार्गमें प्रवृत्त होते हैं व निश्चय ही मुक्तिपुरीके स्वामी हो जाते हैं॥ ३१ ॥

ज आगम-आयरणिहिं सहुँ न विसंवयइ,
भणहि त वयणु निरुत्तु न सग्गुणु ज चयइ।
ते वसति गिहिगेहि वि होइ तमाययणु,
गइहिं तित्थु इहु लब्भइ मुत्तिउ सुहरयणु ॥३२॥

अर्थ—आगम और आचरणके साथ विसंवाद विपरीतता नहीं रखता ऐसे और निश्चित रूपसे सद्गुण जिसको नहीं छोड़ते ऐसे वचनरा जो बोलते हैं। ऐसे व साधु गृहस्थके जिस घरमें रहते हैं वह स्थान भी आयतन—ज्ञानादि लाभको बढ़ानेवाला होता है। वहाँ जानेसे मुक्तिके सुखरत्नका मार्ग पाया जाता है। ३२।

विधि चैत्य जो कि अनिश्राकृत होता है उसीके प्रसंगसे निश्राकृत चैत्यादिके स्वरूपको बताते हैं—

पासत्थाइविबोहिय केइ जि सावयइ,
कारावहिं जिणमंदिर तमइभावियइ।
त किर निस्साचेइउ अवसायिण भणिउ,
तिहि-पव्विहिं तहि कीरइ वंदणु कारणिउ ॥३३॥

अर्थ—पासत्थादिकों द्वारा प्रतिबोधित कितनेक श्रावक तन्मत भावित चित्तवाले होकर श्रीजिनमंदिरको बनाते हैं, उस चैत्यको अवसरज्ञ निश्रा चैत्य कहा गया है। पर्व तिथि अष्टमी चतुर्दशी आदिमें एवं पर्यूषणादि पर्वोंमें वहां कारणसे वन्दन किया जा सकता है अनिश्राकृत चैत्यके अभावमें। ३३।

अनायतन बतानेकी इच्छावाले निशीथ सूत्रके प्रकारसे बताते हैं—

जहिं लिंगिय जिणमंदिरि जिणदव्विण कयइ,
मढि वसति आसायण करहिं महंतियइ।

त पकप्पि परिवन्निउ साहम्मियथलिय,
जहिं गय वंदणकज्जिण न सुदसण मिलिय ॥३४॥

अर्थ—जहाँ मात्र साधु वेशधारी शिथिला चारि जिन मंदिरमें या जिन द्रव्यसे निर्मित मठमें रहते हैं और भारी आसातना करते हैं। उसको प्रकल्प श्रीनिशीथ अध्ययनमें साधर्मिक स्थली बताया है। वहाँ वन्दनके लिये गये हुए व्यक्ति सुदर्शन सम्यक्त्वको नहीं पाते। ३४।

ओघ निर्युक्ति आदिमें बताये हुए प्रकारसे अनायतन बताते हैं—

ओहनिजुत्तावस्सयपयरणदसियउ,
तमणाययणु जु दावइ दुक्खपसंसियउ।
तहिं कारणि वि न जुत्तउ सावयजणगमणु,
तहिं वसति जे लिंगिय ताहि वि पयनमणु ॥३५॥

अर्थ—ओघनिर्युक्ति आवश्यक सूत्र आदि सिद्धान्तोंमें बताया हुआ निश्राकृत चैत्यरूप अनायतन, प्रशंसा करनेवालोंको नरकादि गति संबंधि दुःखको दिखाता है। अतः वहां कारण होनेपर भी श्रावकोंको जाना युक्त नहीं है। वहां जो साध्वाभास रहते हैं उनको पद वन्दन करना भी अयुक्त है। ३५।

वहाँ जानेमें जो दोष लगता है वह बताते हैं—

जाइज्जइ तहि वावि (ठाणि) ति नमियहि इत्थु जइ,
गय नमतजण पावहि गुणगणवुड्ढि जइ।
गइहि तत्थुति नमतिहि पाउ जु पावियइ,
गमणु नमणु तहि निच्छइ सगुणहि वारियइ ॥३६॥

अर्थ—हां? वहाँ जाया जाय? और लिंगधारी चैत्य वासियोंको नमस्कार भी किया जाय?? यदि गये हुए नमस्कार करनेवाले भाविक जन अपने गुण समुदायकी वृद्धि को पाते हों।।। परन्तु वहाँ जानेवाले और नमस्कारको करनेवाले यदि पापको ही पाते हो, तो सद्गुणी गीतार्थो द्वारा वहाँ जाना और चैत्यवासियोंको नमना निश्चय करके रोका गया है। ३६।

चैत्य वासियोंके जैसे ही कितसेक वसतिवास करनेवाले भी भावसे अनायतन — हैं। अतः उनका अदर्शनीयत्व प्रतिपादन करते हैं—

वसहिहिं वसहि बहुत्तउतसुत्त पयपिरइ,
करहि किरिय जणरजण निच्चु वि दुक्करय।
परि मम्मत्तविहीण ति हीणिहि सेवियहि,
तिहि सहु दसणु सग्गुण कुणहि न पावियहि ॥३७॥

अर्थ—अत्यन्तउत्सूत्रको बोलनेवाले वह वसतिमे भी रहते है। जन रंजनार्थ हमेशा दुष्कर कठोर क्रियाएं भी करते है। परन्तु सम्यक्त्वसे हीन होनेसे वे हीन सम्यक्त्व विरलो द्वारा ही से वे माने जाते है। इस लिये सद्गुणी-गीतार्थानुयायी सच्चे सम्यक्त्व रसिक भव्यात्मा उन भार पापाचारियोंके साथ दर्शन-सद्गुरु सम्बन्धी व्यवहार नहीं करते है। ३७।

अनिश्रा चैत्य निश्राचैत्य साध्वाभास वासित अनयतन चैत्य—इन तीनों, चैत्योंमे गमनादि विषय विभागको बताते है।

उस्सग्गिण विहिचेइउ पढमु पयासियउ,
निस्साकडु अववाइण दुइउ निदसियउ।
जहि किर लिगिय निवसहि तमिह अणाययणु,
तहि निसिद्धु सिद्धति वि धम्मियजणगमणु ॥३८॥

अर्थ—उत्सर्ग रूपमे विधि चैत्यको जाने योग्य प्रथम प्रकाशित किया है। अपवाद रूपसे निश्राकृत—जिसमे कि ज्ञाति गोत्र गच्छादिकी निश्रा रहती है, पर जहां चैत्य वासी नहीं रहते है, ऐसे—चैत्यको जाने योग्य दूसरा दिखाया है। जहां लिंगधारी साध्वाभास रहते है उसको यहां प्रवचनमे अनायतन माना है, और वहांपर धार्मिक जनोंको जानेके लिये भी सिद्धान्तमें निषेध किया गया है। ३८।

इसी लिये कहते है—

विणु कारणि तहि गमणु न कुणहि जि सुविहियइ,
तिविहु जु चेइउ कहइ सु साहु वि मन्नियइ।
त पुण दुविहु कहेइ जु सो अवगन्नियइ,
तेण लोउ इह सयलु वि भोलउ धुघियइ ॥३९॥

अर्थ—बिना कारण वहां सुविहित साधु एवं सदाचारी श्रावक गमन नहीं करते है। अनिश्राकृत १ निश्राकृत २ और अनायतन ३ रूप तीन प्रकारके चैत्योंको जो कहते है—प्रतिपादन करते है वे साधु भी मानने चाहिये दूसरे नहीं। उस चैत्यको जो दो प्रकार ही

बताता है अर्थात् अनायतन रूप तीसरे भेदको जो नहीं बनाता वह साधु भी अव-गणना योग्य होता है। उस द्विविध चैत्य बताने वालेने इस ससारमे सारे ही भोले लोगोंको ठगा है। ३९।

इय निप्पुन्नह् दुल्लह सिरिजिणवल्लहिण,
तिविहु निवेइउ चेइउ सिवसिरिवल्लहिण।
उस्सुत्तइ वारंतिण सुत्तु कहतइण,
इह् नवं व जिणसासणु दसिउ सुम्मइण ॥४०॥

अर्थ—इस प्रकार पुण्य हीनोको दुर्लभ मोक्ष लक्ष्मीके वल्लभ श्रीजिनवल्लभ सूरीश्वरजीने तीन प्रकारके चैत्य बताये हैं। उत्सूत्र आचारणाओको रोकते हुए और सूत्रोक्त अनुष्ठानोंको कहते हुए, उन सन्मतिने प्राचीन ऐसे भी श्री जिन शासनको नयेके समान दिखा दिया है। ॥४०॥

इक्कवयणु जिणवल्लहु पहु वयणइ घणइ,
कि व जंपिवि जणु सक्कइ सक्कु वि जड मुणइ।
तसु पयभत्तइ सत्तह सत्तह भवमयह,
होइ अन्तु सुनिरुत्तउ तव्वयणुज्जयह ॥४१॥

अर्थ—हे सर्वे ? तुम जानो कि श्रीजिनवल्लभ प्रभु एक वचनी होते हुए भी श्री वीरपट् कल्याण—विधि-विषय पारतन्त्र्य नैत्य साधुगत कृत्याकृत्य छह हाथ प्रमाण साधु प्रावरण कल्प कषायादि द्रव्याहत जलमहणादि बहुतसे वचनोको कैसे बोल सकते हैं। एक वचनकी शक्तिवाला बहुत वचनोंको कैसे बोल सकता है। यह यहा विरोध सा दिखाते हुए, विरोधा भासालकारको प्रकट किया है। विरोध परिहार यह है कि—श्री गुरुमहाराज का वचन सिद्धान्तसे अविरुद्ध और गीतार्थो के आचरणानुसारी होनेसे विपरीतताको नहीं रखता। वे वचन चैत्य वासियो द्वारा लुप्त प्राय होनेसे शक्र - इन्द्र भी मुश्किल्से यदि जाने तो जाने।

अथवा यो अर्थ करना चाहिये कि श्रीजिनवल्लभसूरीश्वरजी महाराजने आगमानुसारी अनेक वचन जो कि पहिले कुछ बताये गये हैं—उनको हमारे जैसा एक वदन—मुख वाला व्यक्ति कैसे बोल सकता है। ऐसे उन गुरुदेवके पद सेवक—भव्यात्मा-जो कि उन गुरुदेवके वचन आज्ञाको माननेमे तत्पर हैं—उनके सातो भय-भयो का सुनिश्चित रूपसे अन्त हो जाता है ॥ ४१॥

इक्कालु जसु विज्ज असेस वि वयणि ठिय,
मिच्छदिट्ठि वि वदहिं [illegible]रभावट्ठिय।

है ??? । परन्तु यदि व्याकरणकी ओर जिसका ध्यान कुछ भी होगा ? वह ऐसे पदको मा चमत्कारिक ढंगसे समझेगा । यहां एक मनोरंजक श्लोक याद आ गया वह लिख दिया जाता है ।

अहं च त्वं च राजेन्द्र लोकनाथावुभावपि ।
बहुव्रीहिरहं राजन् ! षष्ठीतत्पुरुषो भवान् ॥

अर्थ—हे राजेन्द्र मैं और आप दोनों ही लोकनाथ हैं । पर फर्क इतना ही है कि बहुव्रीहि समाससे मैं लोकनाथ हूं, और आप षष्ठीतत्पुरुष समाससे लोक है नाथ जिसके—ऐसा तो मैं 'लोकनाथ' हूं और आप लोकके नाथ हैं इस लिये लोकनाथ हैं । अब कर्त्ताने श्रीजिनदत्तगुरु शब्दका कैसे प्रयोग किया है यह ध्यानमें रखते हुए अर्थ होना चाहिये । इति



इति चर्चरी समाप्त



जगत्प्रसिद्ध-दादाभिधान-अद्वमयुगप्रधान-भट्टारक

सुविहित खरतर विधि मार्ग प्रवर्त्तक सूरि सम्राट्

श्री श्री १००८ श्री मज्जिनदत्त सूरीश्वर जी महाराज विरचित

उपदेश (धर्म) रसायनरासः

अनुवादक—श्रीमज्जिनहरिसागर सूरि

पणमह पास-वीरजिण भाविण
तुम्हि सव्वि जिव मुच्चहु पाविण
घरववहारि म लग्गा अच्छह
खणि खणि आउ गलतउ पिच्छह ॥१॥

अर्थ—हे भव्य लोगों ? श्री पार्श्वनाथ स्वामीको एव शासनाधीश्वर श्री महावीर स्वामीको भावपूर्वक प्रणाम करो जिससे कि तुम सबलोग पापकर्मोंसे मुक्त हो जाओ। तुम घर व्यापारमें ही मत लगे रहो, प्रतिक्षण नष्ट होते हुए तुमारे आयुष्यको देखो ॥१॥

तब क्या करना चाहिये सो बताते हैं —

लद्धउ माणुसजम्मु म हारहु
अप्पा भव-समुद्दि गउ तारहु।
अप्पु म अप्पहु रायह रोसह
करहु निहाणु म सव्वह दोसह ॥२॥

अर्थ—पाये हुए मनुष्य जन्मको निरर्थक मत हारो। भव समुद्रमें पड़ी हुई अपनी आत्माको पार लगा दो। राग और द्वेषके आधीन अपनी आत्माको मत बनाओ। सब दोषोंका खजाना भी मत बनाओ ॥२॥

दुलहउ मणुयजम्मु जो पत्तउ
सहलउ करहु तुम्हि सुनिरुत्तउ।
सुह गुरू-दसण विणु सो सहलउ
होइ न कीवइ वहलउ वहलउ ॥३॥

अर्थ—दुर्लभ मनुष्य जन्म जो मिला है, उसको तुम निश्चय करके सफल बनाओ। निष्कारण परोपकारी श्री सद्गुरू महाराजके दर्शनके बिना यह जीवनकी सफलता किसी प्रकारसे भी झटपट (शीघ्रतासे) नहीं होती है ॥३॥

श्री सद्गुरुका स्वरूप बताते हैं —

सुगुरु सु वुचइ सच्चउ भासइ
परपरिवायि-नियरु जसु नासइ
सव्वि जीव जिव अप्पउ रक्खइ
मुक्ख-मग्गु पुच्छियउ जु अक्खइ ॥४॥

अर्थ—सुगुरु वे कहे जाते हैं, जो सत्य बोलते हैं। पराई निन्दा करनेवालोंका समुदाय जिनसे दूर ही भागता रहता है। सब जीवोंकी जो अपनी आत्माके समान रक्षा करते हैं। पूछनेपर जो मोक्षमार्गको बताते हैं ॥४॥

जो जिण-वयणु जहट्ठिउ जाणइ
दव्वु खित्तु कालु वि परियाणइ।
जो उस्सग्गववाय वि कारइ
उम्मग्गिण जणु जतउ वारइ ॥५॥

अर्थ—जो श्री जिनेश्वर देवके अविसंवादी वचनोंको यथावस्थित—जैसा हैं वैसा ही जानते हैं। जो द्रव्य क्षेत्रकाल और भावको भी (संयम निर्वाह आदि हेतु भी भली भांति पहिचानते हैं। जो उत्सर्ग और अपवाद विधिको भी यथास्थान करवाते हैं उन्मार्गमें जाते हुए लोगोंको जो रोकते हैं ॥ ॥

इसी प्रसंगमें लोकप्रवाह रूप नदी और द्रव्य नदीका श्लेषालंकारसे श्लिष्टस्वरूप बताते हैं —

इह विसमी गुरुगिरिहिं समुट्ठिय
लोयपवाह—सरिय कुपइट्ठिय
जसु गुरुपोउ नात्थि सो निज्जइ
तसु पवाहि पडियउ परिखिज्जइ ॥६॥

अर्थ—इस लोकमें कुगुरु वचनोंसे समुत्थित महान् अनर्थ हेतु-विषम लोक प्रवाह नदी कुत्सित ढंगमें प्रतिष्ठित है। जिसके पास सद्गुरु रूप जहाज नहीं है ऐसे

आदमीको वह बहा ले जाती है। उसके प्रवाहमे पडा हुआ वह दुर्गतिके दु खोसे दु खित होता है। यह तो हुआ लोक प्रवाह रूप नदीका वर्णन, इसी श्लोकसे द्रव्यनदीका स्वरूप भी निकलता है– जैसे कि—यहा बडे पहाडोसे लोगोको बहा ले जानेवाली विषम नदी उठती है और कन्दराओमे प्रतिष्ठित होती है जिसके पास गुरु बडा जहाज नहीं होता उसको वह बहा ले जाती है। और उसके प्रवाहमे पडा हुआ व्यक्ति खिन्न हो जाता है ॥६॥

सा घण जड परि पूरिय दुत्तर
किव तरति जे हुति निरुत्तर
विरला किवि तरति जि सदुत्तर
ते लहति सुक्खइ उत्तरुत्तर ॥७॥

अर्थ—यह लोक प्रवाह रूप नदी बहुत जड मनुष्योसे व्याप्त होनेके कारण दु खसे तिरने योग्य दुस्तर है। जो विशिष्ट विवकके अभावमे उत्तर देनेके काबिल नहीं होते अर्थात् निरुत्तर होते हैं वे—उसको कैसे तिर सकते हैं। कितनेक विरले लोग जो विशिष्ट विवक विचार सम्पन्न उत्तर देनेकी शक्ति रखते हैं व सदुत्तर लोग उस लोक प्रवाह रूप नदीको तिर जाते हैं और उत्तरोत्तर स्वर्गापवर्गके सुखोको प्राप्त करते हैं। द्रव्यनदी पक्षमे वह घने जलसे परिपूरित दुस्तर होती है। जो तिरनेकी शक्ति हीन-निरुत्तर हैं व लोग उसको कैसे पार कर सकते हैं। जिनमे तिरनेकी शक्ति है अथात् जो सदुत्तर हैं, वे कोई विरला व्यक्ति ही उसको पार करते हैं, और उत्तरोत्तर कुटुम्ब सगम-लक्ष्मी सभोग आदि सुखोंको पाते हैं ॥७॥

गुरु-पवहणु निप्पुन्नि न लब्भइ
तिणि पवाहि जणु पडियउ वुब्भइ
सा संसार-समुद्दि पइट्ठी
जहि सुक्खह वात्ता वि पणट्ठी ॥८॥

अर्थ—पुण्यहीन व्यक्तियोंको सद्गुरु रूप जहाज नहीं मिलता। इसलिये उस लोक प्रवाहमें पडा हुआ प्राणी बहता ही जाता है। वह लोक प्रवाह रूप नदी तो आखिर चार गति चौरासी लाख जीवा योनि भ्रमण रूप ससार समुद्रमे जा गिरती है। जहां कि सुखों का मिलना तो दूर, सुखकी बात भी नष्ट हो जाती है। द्रव्य नदी पक्षमे गुरु प्रवहण —बडा जहा जहाज— निर्धनको नहीं मिलता।

तहि गय जण कुग्गाहिहिं खज्जहिं
मयर-गरुयदाढग्गिहि भिज्जहिं।

अप्पु न मुणहि न पर परियाणहि
सुक्खलच्छि सुमिणे वि न माणहि ॥९॥

अर्थ—इस लोक प्रवाह नदीमें पड़े हुए मनुष्य कुग्राहोंसे ग्रसे जाते हैं। अर्थात्—दुराग्रहाधीन हो जाते हैं। अहंकार कुगुरुओंके दृढ़ मन्तव्य भाषण आचरण रूप दुराग्रहोंसे भेदे जाते हैं—अर्थात् अविधि मार्गसे वासित किये जाते हैं। इस प्रकार मिथ्यात्व मूर्छित हो जानेसे वे न आत्माको न परको ही जान सकते हैं, वे स्वप्नमें भी मोक्षादि सुख लक्ष्मीको नहीं भोगते हैं। द्रव्य नदी पक्षमें कुत्सित जलचर विशेष ग्रसते हैं मगर आदि की बड़ी दाढ़ोंके अग्रभागसे विदारे जाते हैं मूर्छित हो जाते हैं आदि ॥९॥

इन लोक प्रवाह नदीमें पड़े प्राणियोंके लिये किसी सत्पुरुष विशेषकी चेष्टा बताते हैं—

गुरु-पवहणु जइ किर कु वि याणइ
परउवयाररसिय भड्डाणइ।
ता गयचेयण ते जण पिच्छइ
किंचि सचीउ सो वि त निच्छइ ॥१०॥

अर्थ—लोक प्रवाह नदीमें पड़े जीवोंके उद्धारके लिये यदि कोई परोपकार रसिक सत्पुरुष श्री सद्गुरु महाराज रूप जहाजको पतित प्राणियोंकी अनिच्छा रहते हुए—हठात् जबरदस्ती भी ले आता है, उस समय वह उन चेतना विकल मूर्छित जनोंको देखता है। उनमें अगर कोई कुछ सजीव होता है वह भी अपने उस दोष से उस सद्गुरु महाराज रूप जहाजको नहीं चाहता अर्थात् आज्ञा पालन रूप सुविहित विधि मार्गमें प्रवृत्ति नहीं करता। द्रव्य नदी पक्षमें अर्थ स्पष्ट ही है ॥ १० ॥

कट्टिण कु वि जइ आरोविज्जइ
तु वि तिण नीसत्तिण राविज्जइ।
कच्छ ज दिज्जइ किर रोवतह
मा असुइहि भरियइ पिच्छतह ॥११॥

अर्थ—यदि परोपकार रसिक सत्पुरुष कष्ट करके भी लोक प्रवाह नदी पतित जीवको श्रीसद्गुरु महाराज रूप जहाजमें आरोपित करे तो भी निःसत्त्वता—निर्बल चित्तवाला होनेसे वह रोने लग जाता है। यदि रोते हुएको रोकनेके लिये मजबूती की लंगोट-सी जाय बनाई जाय तो उसको भी वह अशुची से देखने वालेके देखते हुए ही भर देता है—अर्थात्

अविधि आचरण करनेके साथ २ निरर्थक निंदा प्रचार मे वह पतित जन लग जाता है ॥११॥

कर्मोंकी बहुलता एव शक्ति विकलताके कारणसे ऐसे अनधिकारीके लिये फलाभाव श्लेपालकारसे बताते है —

धम्मु सु धरणु कु सक्कइ कायरु ?
तहिं गुणु कवणु चडावइ सायरु ?
तसु सुहत्थु निव्वाणु कि सघड ?
मुक्ख कि करइ राह कि सु विंघइ ॥१२॥

अर्थ—कायर पुरुष धर्मको क्या धारण कर सकता है ? अगर धारण भी कर ले तो उत्तरोत्तर वृद्धिलक्षण गुणको सादर कौन आरोपित कर सकता है ? उसके सुखके लिये निर्वाण हेतु अनुष्ठानको भी कौन कृपालु जोड सकता है ? इस हालतमे वह मोक्ष भी क्या प्राप्त कर सकता है ? और राधा—आत्माकी दिव्य धाराको भी वह क्या बीँध सकता है ? श्लेपालकारमे पक्षमे—'धम्मु' का अर्थ धनुष्य, 'गुणु का अर्थ प्रत्यञ्चा डोरी, 'नि-व्वाणु' का अर्थ—निश्चित बाण, मुक्ख' का अर्थ बाण छोडना, 'राह' का अर्थ उल्टे सीधे आठ चक्रोंके बीचमे रही हुई, काष्ठ-पुतलीकी आखकी कीकी करना चाहिये। दोनोंका निष्कर्ष यह होता है कि न कायर व्यक्ति धर्मको धारण करके यावत् मोक्षस्थित आत्माकी दिव्य धाराको ही बींध सकता है, और न कायर मनुष्य धनुष्यको धारण करके राधावेध कर सकता है ॥१२॥

कायरके समान ही अस्थिरवृत्ति वाला भी धर्ममें अयोग्य होता है यह बताते हैं —

तसु किव होइ सुनिव्वुइ-सगमु ?
अथिरु जु जिव किक्काणु तुरगमु ।
कुप्पहि पडइ न मग्गि विलग्गइ
वायह भरिउ जहिच्छइ वग्गइ ॥१३॥

अर्थ—जो किकाण देशीय घोडेके जैसा मन वचन और कायासे अत्यधिक चपल-अस्थिर है, उस व्यक्तिके सुनिवृत्ति परम समाधिका सगम कैसे हो सकता है ? कदापि नहीं। वह लोकप्रवाह रूप—कुमार्गमे पडता है। ज्ञानादि सुमार्गमें तो वह लगता ही नहीं। अविद्या जनित अहकारवाद रूप कुपित वायुसे भरा हुआ जैसी मनमे आती है, वैसी यथेच्छ कुचेष्टाय करता है। जेलगाम किकाण देशीय चचल घोडा भी वायुसे भर जाता है, और कूदता हुआ, मार्गको छोड कुमार्ग पडता है। सुपथसे वचित हो जाता है।

खज्जइ सावएहि सुबहुत्तिहिं
भिज्जइ सामएहिं गुरुगत्तिहिं।
वग्घसघ-भय पडइ सु खड्डह
पडियउ होइ सु कुडउ हड्डह ॥१४॥

अर्थ—लोक प्रवाह रूप कुपथमें पड़ा हुआ वह अस्थिर विचारों वाला मुग्ध जीव बहुतसे नामधारी श्रावकों द्वारा धनसे खाया जाता है। सामद—कोमल पापोपदेश देनेवाले कुगुरुओंसे भेदा जाता है—कुवासना वासित किया जाता है। महा भयोत्पादक बाघके जैसे निर्गुण-दुष्ट बहुजनोंके संघके भयसे अविधि आचरणके बाद नरक रूप खड्डेमें गिरता है। पतित होनेपर निगुण जीवन होनेसे केवल हड्डियोंका ढेर मात्र रह जाता है। अथान्तर पक्षमें—सावएहिं—श्वापद जगली जानवरोंसे खाया जाता है। सामएहिं गुरुगत्तिहिं गुरुमात्र हाथियोंसे भेदा जाता है। खड्डेमें गिरकर केवल हड्डियोंका ढेर हो जाता है ॥१४॥

तेण जम्मु इहु नियउ निरत्थउ
नियमत्थइ देविणु पुल्हत्थउ।
जइ किर तिण कुलि जम्मु वि पाविउ
जाइत्तु तु वि गुण न सु दाविउ ॥१५॥

अर्थ—इस कायर एवं अस्थिर स्वभावी पुरुषने इस संसारमें सद्धर्मकी विकलतासे अपना माथा ठोककर अपने जन्मको निरर्थक बना दिया। यदि उसने अच्छे कुलमें जातियुक्त-सुन्दरतादि सम्पन्न जन्म भी पाया तो भी विधिमार्ग—सद्धर्माचिरणरूप लोकोत्तर गुणको नहीं दिखाया ॥१५॥

जइ किर वरिससयाउ वि होई
पाउ इक्कु परिसचइ सोइ।
कह वि सो वि जिणदिक्ख पवज्जइ
तह वि न सावज्जइ परिवज्जइ ॥१६॥

अर्थ—तथोक्त अस्थिर स्वभाव वाला पुरुष यदि सौ वर्षकी आयुष्य वाला हो तो भी वह केवल पापका ही सचय करता रहता है। किसी भी तरहसे अगर वह जैनी दीक्षाको र भी लेता है तो भी सावद्य—सपाप कार्योंको नहीं छोड़ता है ॥१६॥

गज्जइ मुद्धह लोअह अग्गइ
लक्खण तक्क वियारण लग्गइ ।
भणइ जिणागमु सहु वक्खाणउ
तं पि वियारमि ज लुक्काणउ ॥१७॥

अर्थ—क्योंकि दीक्षित साध्वाभास भोले लोगोंके सामने गर्जता है। लक्षण-व्याकरण, और तर्क नहीं जानता हुआ भी, जानता हु इस ढोंगसे विचारने लगता है। सभी जैन आगमोंका मैं व्याख्यान करता हु जो लौकिक श्रुति-स्मृति, पुराणादि शास्त्र हैं उनको भी मै विचारता हु—जानता हूं। जो कि यथार्थमें जानता कुछ नहीं ॥१७॥

अद्धमास चउमासह पारइ
मलु अब्भितरु बाहिरि धारइ ।
कहइ उस्सुत्त-उम्मग्गपयाइ
पडिक्कमणय-वदणयगयाइ ॥१८॥

अर्थ—जो आधा मास चार मास आदि तप पारता है। अन्दर बाहिर मल मलिनता भी धारण करता है, श्रावकोंको प्रतिक्रमण नहीं करना चाहिये, साधु आदिको भी प्रतिक्रमणमे क्षेत्र देवता आदिके कायोत्सर्ग नहीं करना चाहिये, अन्तमें तीन स्तुति 'नमोस्तु वर्द्धमानाय'—आदिके अनन्तर नमुत्थुण नहीं बोलना चाहिये साध्विया खडी २ ही द्वादशावर्त्त वदन करे, इत्यादि प्रतिक्रमण सम्बन्धी और वदन सम्बन्धी उत्सूत्र—उन्मार्ग रूप अविधि पदोंको कहता है ॥१८॥

पर न मुणइ तयत्थु जो अच्छइ
लोयपवाहि पडिउ सु वि गच्छइ ।
जइ गीयत्थु को वि त वारइ
ता त उट्ठिवि लउडइ मारइ ॥१९॥

अर्थ—परन्तु वह लोक प्रतिक्रमणादि विधिके अर्थको नहिं जानते हैं, यहापर दशिका पर्यन्त वस्त्रको पकड कर उत्कटिकासन रहा हुआ प्रति लेखणा करे यह अर्थ है, पर सच्चे परमार्थको नहिं जानते साध्वियों से खडे-खडे वदन देवाते हैं, सत्य परमार्थ होने पर भी मल धारक लोक प्रवाहमे सामिल होकर चलते हैं, यदि कोई भी गीतार्थ पुरुष उसको ऐसा करनेसे रोकता है तो वह लट्ठसे मारनेको उठता ॥१९॥

धम्मिय जणु मत्थेण वियारइ
सु वि ते धम्मिय सत्थि वियारइ ।
तव्विहलोइहि सो परियरियउ
तउ गीयत्थिहि सो परिहरियउ ॥२०॥

अर्थ—धार्मिक जन उत्सूत्रभाषकोंकी प्रवृत्तिको शास्त्रोंसे विचारते हैं—अयोग्य बताते हैं, और वह उत्सूत्र भाषक उन धार्मिक जनोंको शस्त्रोंसे विचारते हैं—मारनेको दौड़ते हैं। इस प्रकार उच्छृङ्खल प्रवृत्तिवाले उत्सूत्र आचरण करनेवाले लोगोंसे वह अपना लिया जाता है। इसलिये गीतार्थ महापुरुष उसका त्याग कर देते हैं ॥२०॥

जो गीयत्थु सु करइ न मच्छरु
सु वि जीवतु न मिल्लइ मच्छरु ।
सुद्धइ धम्मि जु लग्गइ विरलउ
संघि सु बज्झु कहिज्जइ जवलउ ॥२१॥

अर्थ—जो गीतार्थ होता है, वह मात्सर्य भाव तो नहीं रखता और जो वह मलादि बाह्य प्रवृत्तिधारक उत्सूत्राचारी गीतार्थोंके प्रति यावज्जीवन मात्सर्यको नहीं छोड़ता है। कोई विरला पुरुष ही शुद्ध धर्ममें प्रवृत्तमान होता है। वह भी प्रवाह पतित जन समूह द्वारा चाण्डाल आदिके जैसे जुदा एवं बाह्य माना जाता है ॥२१॥

पइ पइ पाणिउ तसु वाहिज्जइ
उवसमि थक्कु सो वि वाहिज्जइ ।
तस्सावय सावय जिव लग्गहिं
धम्मियलोयह छिड्डइं मग्गहिं ॥२२॥

अर्थ—शुद्ध विधि मार्ग प्रवृत्त धर्मात्मा पुरुषके पद पदपर छिद्र ढूंढे जाते हैं और शान्त वृत्ति रखते हुए भी वह उस प्रवाह पतित दुष्ट संघके द्वारा सताया जाता है। दुष्ट संघ के श्रावक श्वापद—जङ्गली जानवरोंके जैसे पीछे लगते हैं। धार्मिक लोगोंके छिद्रोंको ढूंढ़ते रहते हैं ॥२२॥

विहिचेईहरि अविहिकरेवइ
करहिं उवाय बहुत्ति ति लेवइ ।
जइ विहिजिणहरि अविहि पयट्टइ
ता घिउ सत्तुयमज्झि पलुट्टइ ॥२३॥

अर्थ—व प्रवाह पतित कुश्रावक विधि चैत्यमें अविधि करानेके लिये बहुतसे उपाय काममे लाते हैं। परन्तु उनकी चलती नहीं, यदि कदाचित् विधि जिन मन्दिरमें अविधि प्रमादाचरण हो जाय तब तो, मानो 'सत्तूमे घी पडा हो' वैसे वे मानने लगते हैं ॥२३॥

जइ किर नरवइ कि वि दूसमवस
ताहि वि अप्पहि विहिचेइय दस।
तह वि न धम्मिय विहि विणु झगडहि
जइ ते सव्वि वि उट्ठहि लगुडिहि ॥२४॥

अर्थ—यदि दु षम कालके प्रभावसे कोई राजा उन अविधिकारियोंको दो चार दस विधिचैत्य पूजा करनेके लिये सोंप दे, तो भी धार्मिक जन विधिके बिना उन अविधि-कारियोंसे अगर वे सबके सब लट्ठ लेकर उठे तो भी झगडा नहीं करते हैं ॥२४॥

निच्चु वि सुगुरु-देवपयभत्तह
पणपरमिट्ठि सरतह सतह।
सासण सुर पसन्न ते भव्वइ
धम्मिय कज्जि पसाहहि सव्वइ ॥२५॥

अर्थ—इस प्रकार होने पर भी, हमेशा देव गुरुकी भक्ति करनेवाले, श्री पचपरमेष्ठी भगवानका ध्यान करनेवाले, उन विधि करनेवाले सज्जन पुरुषोंके सारे मन चाहे धार्मिक कार्य प्रसन्न हुए शासन देव सिद्ध कर देते हैं ॥२५॥

धम्मिउ धम्मुकज्जु साहंतउ
परु मारइ कीवइ जुज्झतउ।
तु वि तसु धम्मु अत्थि न हु नासइ
परमपइ निवसइ सो सासइ ॥२६॥

अर्थ—विधि मार्गकी साधना करते हुए धार्मिक जनको यदि कोई अविधि करने-वाला दूसरा व्यक्ति मार भी दे तो उसकी—विधि साधकका धर्म्म रहता ही है, नष्ट नहीं होता मर करके भी वह विधि साधनाके प्रभावसे शाश्वत ऐसे परम पदमें वास करता है ॥२६॥

सावय विहिधम्मह अहिगारिय
जिज्ज न हुंति दीहससारिय

अविहि करिंति न सुहगुरुवारिय
जिणसवधिय घरहि न दारिय ॥२७॥

अर्थ—जो श्रावक विधि धर्मके अधिकारी होते हैं, वे दीर्घ संसारी—बहुकाल तक संसारमें भटकनेवाले नहीं होते। सुविहित गुरुसे रोके हुए व अविधिको नहीं करते हैं, और न जिनमन्दिर सम्बन्धिनी वेश्याको ही धारते हैं—रखते हैं ॥२७॥

—विधि बताते हैं—

जइ किर फुल्लइ लब्भइ मुल्लिण
तो वाडिय न करहि सहु कुविण।
थावर घर-हट्टइ न करावहि
जिणधणु सगहु करि न वढारहि ॥२८॥

अर्थ—यदि मूल्य कीम्मतसे फूल मिल जायँ तो कुएँके साथ बगीचा न बनावे। स्थावर—मिलकतमें घर हाट भी मन्दिरके नामसे न बनावे। देव द्रव्यका संग्रह करके उसको न बढ़ावे ॥२८॥

जइ किर कु वि मरतु घर-हट्टइ
देइ त लिज्जहि लहणायट्टइ।
अह कु वि भत्तिहि देइ त लिज्जहि
तब्भाडयधणि जिण पूइज्जहि ॥२९॥

अर्थ—यदि कोई मरते समय घर दुकान मन्दिरके नाम अपना कर्ज छुड़ानेके लिये देता है तो वह लेना चाहिये। अथवा कोई भक्तिसे देता भी है तो लेना चाहिये और उसके भाड़ेकी आमदनी को जिनपूजा आदिमें लगा देनी चाहिये ॥२९॥

दिंत न सावय ते वारिज्जहिं
धम्मिकज्जि ते उच्छाहिज्जहिं।
घरवावारु सव्वु जिव मिल्लहिं
जिव न कसायहि ते पिलिज्जहि ॥३०॥

अर्थ—मन्दिरके नाम कर्ज पेटे या भक्तिसे घर हाट आदि देते हुए श्रावकोंको रोकना नहीं चाहिये, बल्कि धर्मकार्यमें उत्साहित करते जाना चाहिये। जिससे वो घर व्यापारको छोड़ें और क्रोधमान आदि कषायोंसे भी वे न पीड़े जायँ ॥३०॥

तिव तिव धम्मु कहिंति सयाणा
जिव ते मरिवि हुंति सुरराणा ।
चित्तासोय कर्त्त डाहिय
जण तहिं कय हवति नट्ठाहिय ॥३१॥

अर्थ—सज्जन गीतार्थ पुरुष वैसे-वैसे धर्मको फरमाते हैं जिसको आचरण करके मरके भी मनुष्य देव-देवेन्द्र आदि हो जाते हैं। चैत्र और आश्विन मासमें श्रावक जन अष्टाह्निका—शाश्वतयात्रा करते हैं, जिसके करनेसे वे नष्ट चिन्तावाले व्याधिरहित हो जाते हैं ॥३१॥

जिव कल्लाणयपुट्ठिहि किज्जहिं
तिव करिंति सावय जहसत्तिहिं ।
जा लहुडी सा नच्चाविज्जहिं
वड्डी सुगुरु-वयणि आणिज्जइ ॥३२॥

अर्थ—श्री जिनेश्वर देवोंके जन्म कल्याणक आदिके पीछे देवता अष्टाह्निक महिमा नंदीश्वर द्वीपमें करते हैं। वैसे श्रावक भी यथाशक्ति अष्टाह्निकादिक महोत्सव करते हैं। उसमें जो लड़कीयें[1] नाचनेवाली होती हैं वे नचाई जाती हैं। सुगुरुकी आज्ञासे बड़ी नाचनेवाली लानी हो सो लानी चाहिये ॥३२॥

जोव्वणत्थ जा नच्चइ दारी
सा लग्गइ सावयह वियारी ।
तिहि निमित्तु सावयसुय फट्टहि
जतिहि दिवसिहि धम्मह फिट्टहि ॥३३॥

अर्थ—युवानस्थावाली जो वेश्या नाचती है वह श्रावकोंको ठगने लगती है। उसके लिये श्रावकोंके लड़के परस्परमे विरक्त चित्तवाले हो जाते हैं—लड़ते हैं। एवं कुछ दिनोंके बाद धर्मसे भी भ्रष्ट हो जाते हैं ॥३३॥

१—आजकल जैनेतर मंदिरोंमें जैसे वेश्याएँ नाचती हैं वैसे ही चैत्यवासियोंके जमानेमें जैन मन्दिरोंमें नाचती थीं। जैन शास्त्रोंमें मन्दिरमें नृत्य निषेध नहीं होनेसे प्रस्तुत प्रवृत्ति होती थी। इसमें जो कुप्रवृत्ति थी उसे रोकनेको ऊपरका श्लोक बना प्रतीत होता है। छोटी बच्चियाँ यदि नाचें भी तो विकारके बजाय भक्तिभाव ही बढ़ता है। तरुणी वेश्याओंका नाच—जो कि उस समय प्रस्तुत था उसका विकारवर्द्धक होनेसे निषेध कर दिया है, आजकल तो वेश्या नृत्य ही बन्द है।

बहुय लोय रायध म पिच्छहि
जिणमुह-पकउ विरला वछहि ।
जणु जिणभवणि सुहत्थु जु आयउ
मरइ सु तिक्खकडक्खिहि घायउ ॥३४॥

अर्थ—तरुणी वेश्याको रागान्ध होकर बहुत लोग देखते हैं और श्री जिन भगवानके मुखकमलके तो फिर विरले ही दर्शन करना चाहते हैं। जो मनुष्य सुखके लिये श्री जिन मंदिरमें आया था पर उसके तीव्र कटाक्ष बाणोंसे घायल होकर मारा जाता है ॥३४॥

राग विरुद्धा नवि गाइज्जहि
हियइ धरतिहि जिणगुण गिज्जहि ।
पाड वि न हु अजुत वाइज्जहि
लइवुडिडउडि-पमुह वारिज्जहि ॥३५॥

अर्थ—विकारवर्द्धक विरुद्ध राग, भजन भी जिनमन्दिरोंमें नहीं गाने चाहिये। हृदयमें श्री जिन गुणोंको धारण करते हुए वैराग्य, शान्ति, ज्ञान भक्ति—प्रधान भजन ही गाने चाहिये। मरणादि अवस्थासूचक पाड आदि देश विदेशके बाजे भी नहीं बजाने चाहिये। "लइ वुडि डउडि —प्रमुख भी गेर देने चाहिये ॥३५॥

उचिय थुत्ति-थुयपाढ पढिज्जहि
जे सिद्धंतिहि सहु संधिज्जहि ।
तालारासु वि दिंति न रयणिहिं
दिवसि वि लउडारसु सहुँ पुरिसिहिं ॥३६॥

अर्थ—उचित स्तुति स्तोत्र पाठ ही पढने चाहिये—जो कि सिद्धान्तसे भी मेल रखते हों। तालियोंको पीटते हुए—गरबे आदि भी रात्रिमें नहीं देना चाहिये। पुरुषोंके साथ डांडियारास दिनमें नहीं खेलना चाहिये, प्रमादसे मस्तक आदिमें चोट लगने आदिकी सम्भावना होनेसे ॥३६॥

धम्मिय नाडय पर नच्चिज्जहिं
भरह-सगर निक्खमण कहिज्जहिं ।
चक्कवट्टि - बल - रायह चरियइ
नच्चिवि अंति हुंति पव्वइयइ ॥३७॥

अर्थ—धार्मिक भावना परक नाटक खेलने हो तो खेलने चाहिये। भरत चक्रवर्ती सगर चक्रवर्ती आदिके निष्क्रमण दीक्षा आदि भाव, नाटकोंमें कहने चाहिये। दूसरे भी चक्रवर्ती बलदेव दशार्णभद्र आदि राजा लोगोंके चरित नाटकोंमें बताने चाहिये। अधिक क्या ? वे ही नाटक होने चाहिये जिनके अन्तमें दीक्षाके भाव हों ॥३७॥

हास खिड्ड हुड्ड वि वज्जिज्जहिं
सहु पुरिसेहिं वि केलि न किज्जहिं।
रत्तिहिं जुवइपवेसु निवारहिं
न्हवणु नंदि न पइट्ठ करावहिं ॥३८॥

अर्थ—मंदिरमें हँसी मजाक—क्रीडा कुतूहल—होड शर्त्त आदिका भी त्याग करना चाहिये। पुरुषोंके साथ क्रीडा नहीं करना चाहिये। रात्रिमें स्त्रियोंका प्रवेश रोक देते हैं और स्नात्र नंदिस्थापना एव प्रतिष्ठाको नहीं कराते हैं ॥३८॥

माहमाल - जलकीलदोलय
ति वि अजुत्त न करति गुणालय।
बलि अत्थमियइ दिणयरि न धरहिं
घरकज्जइ पुण जिणहरि न करहिं ॥३९॥

अर्थ— माघ माला--जलकेलि -देवताओंके हिंडोल आदि सभी अनागमिक—अयुक्त काम गुणवान श्रावक लोग जिनमंदिरमें नहीं करते हैं। सूर्यके अस्त होनेपर बलि-नैवद्य भी नहीं चढाते हैं। घर सम्बन्धी कामोंको भी मंदिरमें नहीं करते हैं ॥३९॥

चैत्य सम्बन्धी विधिके बताये बाद विशिष्टाचार्यके स्वरूपको बताते हैं—

सूरि ति विहिजिणहरि वक्खाणहिं
तहिं जे अविहि उत्सुत्तु न आणहिं
नंदि - पइट्ठह ते अहिगारिय
सूरि ति जे तदवरि ते वारिय ॥४०॥

अर्थ— वेही आचार्य आचार्यपदके योग्य हैं जो विधि जिन चैत्यमें व्याख्यान देते हैं, उसमें अविधि या सूत्र विरुद्ध कोइ बात नहीं लाते। वे ही नन्दिस्थापनाके एव मूर्ति प्रतिष्ठाके अधिकारी होते हैं। उनसे भिन्न जो आचार्य नामधारी भी हैं उनका निवारण करना चाहिये ॥४०॥

एगु जुगप्पहाणु गुरू मन्नहि
जो जिण गणिगुरु पवयणि वन्नहि
तासु सीसि गुणमिगु समुट्ठइ
पवयणु-कज्जु जु साहइ लट्ठइ ॥४१॥

अर्थ—सुश्रावक लोग एक कालमें एक ही युग-प्रधान गुरुको मानते। जिसको तीर्थंकर देवोंने प्रवचनमें गणि गुरु रूपसे वर्णित किया है। उनके दिव्य मस्तकमें गुण रूप सिंग प्रकटते हैं और जो शासनके कार्योंको सुन्दरतया सम्पन्न करते हैं ॥४१॥

सो छउमत्थु वि जाणइ सव्वइ
जिण-गुरु-समइपसाइण भव्वइ
चलइ न पाइण तेण जु दिट्ठउ
ज जि निकाइउ त परि विणट्ठउ ॥४२॥

अर्थ—वे युगप्रधान गुरु छद्मस्थ होते हुए भी कालोचित सभी बात जानते हैं। जिने श्वरदेव सद्गुरु महाराज एवं श्रुत ज्ञानके प्रसादसे उनकी देखी हुई या कही हुई यथावस्थित अवस्था प्राय करके विपरीत नहीं चलती—अर्थात जैसा कहते हैं वैसा होके रहता है। कदाचित निकाचित निश्चित रूपसे भोगने योग्य कर्म होता है वह भी नष्ट हो जाता है। युगप्रधान गुरुओंके वचन टलते नहीं ॥४२॥

जिणपवयणभत्तउ जो सक्कु वि तसु
पयचित करइ वहु व वक्कु विजस
न कसाइहि मणु पीडिज्जइ
तेण सु देविहि वि ईडिज्जइ ॥४३॥

अर्थ—उन युगप्रधान गुरुके पदकी चिन्ता जिन शासन भक्त देवेन्द्र महाराज—जो कि देवताई भोगोंमें बहुत ही व्यग्र रहते हैं—वे भी करते हैं—अर्थात् आपत्तिकालमें उसको मिटानेकी चिन्ता करते हैं। जिनका मन कषायोंसे पीडित नहीं होता। इसीलिये तो देवता भी उनकी स्तुति करते हैं।

सुगुरु-आण मणि सइ जसु निवसइ
जसु तत्तत्थि चित्त पुणु पविसइ।
जा नाइण कुवि जिणवि न सक्कइ
जा परवाइ-भइण नासक्कइ ॥४४॥

अर्थ—जो युगप्रधान गुरु पूर्व सुगुरुओंकी आज्ञाको सदा हृदयमें रखते हैं। तत्त्वार्थ में जिनका चित्त हमेशा प्रविष्ट रहता है। जिनको न्यायमें कोई भी नहीं जीत सकता। जो परवादियोंके भयसे भागते भी नहीं हैं ॥४४॥

जसु चरिडण गुणिचित्तु चमक्कइ
तसु जु न सहइ सु दूरि निलुक्कइ
जसु परिचित करहिं जं देवय
तसु समचित्त ति थोवा सेवय ॥४५॥

अर्थ—जिनके अद्भुत चरित्रसे गुणिजनोंका चित्त चमत्कृत होते हैं। उनको जो नहीं मानते हैं, ऐसे असहिष्णु लोग दूरसे ही लुप्त हो जाते हैं। जिनकी विपत्ति आदिमें देवता भी परिचिंता करते हैं। उनके समचित्त वाले व थोड़े ही सेवक होते हैं ॥४५॥

तसु निसि दिवसि चित इह (य) वट्टइ
कहिं वि ठावि जिणवयणु फिट्टइ
भूरि भवता दीसहिं वोडा
जे सु पसंसहिं ते परि थोडा ॥४६॥

अर्थ—उन युगप्रधान गुरुके चित्तमें रात दिन यही चिन्ता रहती है कि किसी भी स्थानमें जिन शासनकी हीलना तो नहीं होती? भटकते हुए बहुतसे मोडे दीखते हैं पर एसे युगप्रधान गुरुकी स्तुति प्रशंसा करनेवाले बहुत थोडे ही हैं ॥४६॥

पिच्छहिं ते तसु पइ पइ पाणिउ
तसु असतु दुहु ढोयहिं आणिउ।
धम्मपसाइण सो परि छुट्टइ
सव्वत्थ वि सुहकज्जि पयट्टइ। ॥४७॥

अर्थ—वैसे मोड़े साध्वाभास उन युगप्रधान गुरुके पद पदमें छिद्र ढूढ़ते रहते हैं और बिना हुए दुःखों को उनके लिये ढो ढो कर लाते हैं। किन्तु धर्मके प्रसादसे वे भली भांति पीडासे दूर रहते हैं। एवं शुभकार्योंमें सदा सर्वत्र प्रवृत्ति करते रहते हैं ॥४७॥

तह विहु ताहिं वि सो नवि रूसइ
खम न सु मिल्लइ नवि ते दूसइ।

जइ ति वि आवहि तो सभासइ

जुत्तु तदुत्तु वि निसुणिवि तूसइ ॥४८॥

अर्थ—साध्वाभासोंकी कुचेष्टा होने पर भी व युगप्रधान गुरु उनके लिये रोक नहीं करते। शक्तिके रहते हुए भी क्षमा को नहीं छोड़ते, और न उन मोड़ोंकी ही दूषित करनेकी चेष्टा करते हैं। अगर व लोग सामने आते भी हैं तो उनके साथ सम्भाषण करते हैं। उन दुष्टों की कही हुई, योग्य बात को भी सुन खुश होते हैं। अर्थात् युगप्रधान सर्वत्र सम परिणामसे सारग्राही होते हैं ॥४ ॥

अप्पु अणप्पु वि न सु बहु मन्नइ ।

थोवगुणु वि परु पिच्छवि वन्नइ ।

एइ वि जइ तरति भवसायरु

ता अणुवत्तउ निच्चु वि सायरु ॥४९॥

अर्थ—अनल्प गुण वाली भी अपनी आत्मा को जो बहुत नहीं मानते। दूसरेके थोड़े गुण को भी देखकर जो तारीफ करने लग जाते हैं। व ऐसा सोचते रहते हैं, कि यदि ये लोग भवसागर पार कर एसा मैं हमेशा देखता रहूं तो बड़ा ही अच्छा हो। ऐसे गुरु ही युगप्रधान हो सकते हैं।

जुगुपहाणु गुरु इउ परि चिंतइ

त—मूलि वि त—मण सु निकिंतइ ।

लोउ लोयवत्ताणइ भग्गउ

तासु न दसणु पिच्छइ नग्गउ ॥५०॥

अर्थ—युगप्रधान गुरु तो इस प्रकार परहित चिंतन करते हैं, और उसके पासम वर्तमान दुष्ट चित्त वाले व्यक्ति उन्हकि मन को काटते रहते हैं। अर्थात् तन्मूलक ज्ञान दर्शन चारित्र को झूठे आक्षेपा द्वारा मलिन बनाते हैं। भोले लोक भी तथाविध दुष्टात्माओं की बातों को सुनकर भग्न परिणामी होकर उन गुरुदेवके दर्शनसे वंचित रहते हैं, अरे ? अपने आगेके भव को भी नहीं देखते हैं। वास्तवमें नगे दुष्ट आदमी ऐसे ही होते हैं ॥५०॥

इस प्रकार युगप्रधान गुरुके स्वरूप को बताये बाद उनके प्रवाह पतित लोगोंकी बानी वाणी को बताये हैं—

इह गुरु केहि वि लोइहि वन्निउ ।

तु वि अम्हारइ सधि न मन्निउ ।

अम्हि कम इसु पुट्ठिहि लग्गइ।
अन्निहि जिव किव नियगुरु मिल्लह ॥५१॥

अर्थ - ये गुरु कितनेक लोको द्वारा प्रशसित है, परन्तु हमारे सघने इनको नहीं माना, हम कैसे इनके पीछे लगें ? दूसरोंकि जैसे वैसे हम अपने गुरुको जैसे तैसे गुरु को भी कैसे छोड दें ? ॥५१॥

पारतंत-विहिविसइ-विमुक्कउ
जणु इउ बुल्लइ मग्गह चुक्कउ।
तिणि जणु विहि धम्मिहि सह झगडइ
इह परलोइ वि अप्पा रगडइ ॥५२॥

अर्थ—सद्गुरुकी परतन्त्रता आगमोक्त-विधि साधु श्रावकोंका विषय इनसे अलग लोकप्रवाह पतित जन मार्ग भ्रष्ट होता हुआ इस प्रकारसे ऊपर कही बातबोलता है एवं इसी लिये विधिधर्मकारी लोगोंके साथ झगडता है और इस लोकमें एवं परलोकमे आत्मा को भीर रडवाता रहता है ॥५२॥

तु वि अविलक्खु विवाउ करतउ
किवइ न थक्कइ विहि असहतउ।
जो जिणभासिउ विह सु कि तुट्टइ ?
सो झगडतु लोउ परिफिट्टइ ॥५३॥

अर्थ—यद्यपि आत्माकी ओर ध्यान नहीं देता है, तो भी अपने निश्चित लक्ष्यसे हीन होता हुआ अविवेकी विवाद करते हुए कैसे भी नहीं थकता और विधि को सहन नहीं करता है। तो भी क्या ? वह श्री जिनेश्वरदेव द्वारा फरमाई हुई विधि झूठ थोडे हो सकती है ? हां क्लेशको करता हुआ वह प्रवाह पतित जनतो अवश्य फीका पडता है। धर्म लाभसे रहित होता है ॥५३॥

दुप्पसहतु चरणु ज वुत्तउ
त विहि विणु किव होइ निरुत्तउ।।
इक्क सूरि [illegible] वि स अज्जी
इक्कु देस [illegible] देसज्जी ॥५४॥

अर्थ—भगवान् ने फरमाया है कि अंतमें श्रीदुप्पसहसूरि जी तक चरित्र रहेगा। यह बात विधिके विना कैसे निश्चत हो सकती है? अंतमें एक दुप्रसभ नामके आचार्य होंगे। सत्य श्री नामकी एक आया होगी। देशव्रत को धारण करने वाला नागिल नामका एक श्रावक होगा, और फल्गुश्री नामकी एक देशव्रतधारिणी श्राविका होगी ॥५४॥

तह वीरह तु वि तित्यु पयट्टइ
त दुस-वीसह अज्जु कि तुट्टइ ।।
नाण-चरण-दसणगुणसठिउ
मघु सु वच्चइ जिणिहि जहट्ठिउ ॥५५॥

अर्थ—फिर श्री वीर भगवानका शासन इक्कीस हजार वर्ष तक रहेगा। यह क्या दश पास वर्षमे या आज ही टूटता है? ना। यह तो अविच्छिन्न धारासे चलता रहेगा। हाँ सम्यग्ज्ञान चरित्र और दर्शन गुणमें सस्थित चतुर्विध श्री सघ को ही तीथकर देवो यथार्थ रूपसे सघ कहा है। चाहे वह सख्यामें कितना ही हो ॥ ५५ ॥

दव्व-खित्त-काल-ठिइ वट्टइ
गुणि मच्छरु करतु न निहट्टइ ।
गुणविहूणु सघाउ कहिज्जइ
लोअपवाहनईए जो निज्जइ ॥५६॥

अर्थ—श्रीभगवानका फरमाया हुआ विधिसघ द्रव्य क्षेत्र काल स्थितिके अनुसार वर्तता है। गुणवान् पुरुषोंके साथ निश्चत रूप मात्सय भाव नहीं रखता। कदाचित् दुष्कर्मके उदयसे मत्सरता आभी जाय तो उसम निश्चत नहीं होता। उस को सघ कहते है। परन्तु जो लोक प्रवाह रूप नदीमें बहता है एव उचित गुणोंसे हीन है वह 'संघात' कहा जा सकता है। जैन शासनमे सबकी भारी वर्णना है ॥ ५६ ॥

जुत्ताजुत्तु वियारु न रच्चइ
जसु ज भावइ त तिण वुच्चइ ।
अविवेइ इहिं सु वि सघ भणिज्जइ
पर गीयत्थिहिं किव मन्निज्जइ ॥५७॥

अर्थ—जिसको योग्यायोग्य विचारका भी ख्याल नहीं है। जिसको जो मनमें भाता है वही वह बाल देता है, अविवेकी आदमी हो ऐसे टोळे को सघ कहते हैं, परन्तु गीतार्थ संघको कैसे माने ॥ ५७ ॥

विणु कारणि मिद्धंति निसिद्धउ
वदणाइकरणु वि जु पसिद्धउ।
तसु गीयत्थ केम कारण विणु
पइदिणु मिलहिं करहिं पयवदणु ? ॥५८॥

अर्थ—सिद्धान्तमे विना कारण साध्वाभासो को वदन करना आदि प्रसिद्ध रूपसे निषिद्ध किया हुआ है। उनके साथ गीतार्थ लोग अकारण कैसे मिल ? और कैसे पदवदन आदि कर ? अर्थात् नहीं करना चाहिये ॥ ५८ ॥

जो असघु सो सघु पयासइ
जु ज्जि सघु तसु दूरिण नासइ।
जिव रायध जुवइदेह गिहिं
चद कुंद अणहुति वि लक्खहिं ॥५९॥

अर्थ—प्रवाह पतित जन जो सघ गुणसे हीन असघ टोला मात्र है। उसको सघ रूप से प्रकाशित करता है और जो गुण सपन्न सघ है उससे दूर भागता है जिस प्रकार रागाध लोग युवती स्त्रियोंके शरीर अन्त नहीं होने वाले (मुखको) चन्द्र कुंद आदि को लक्षित-कल्पित करलेते हैं, वैसे ही गुण हीन टोलेमें असम्यकर्चा लोग सघकी कल्पना करते हैं ॥ ५९ ॥

तिव दसण रायध निरिक्खहि
ज न अत्थि त वत्थु-विवक्खहि।
ते विवरियदिट्ठि सिवसुु वराइ
पावहि सुमिणि वि कह पच्चक्खइ ॥६०॥

अर्थ—उसी प्रकार दर्शन-रागमें अन्धे अतत्पक्षपाती लोग जो चीज नहीं है उस वस्तु को देखते हैं, और उसकी व्याख्या भी करते हैं। ऐसे विपरीत दृष्टि वाले वे लोग प्रत्यक्ष तो दूरमें भी प्रत्पर शिव सुखको कैसे पासकते हैं। सर्वथा नहीं ॥ ६० ॥

दम्म लिंति साहम्मिय-सतिय
अवरुप्परु झगडति न दिंति य।
ते विहिधम्मह खिस महति य
लोयमज्झि झगडति करति य ॥६१॥

श्रावकों को गृहस्थोचित शिक्षा बताते हैं—

अर्थ—जो श्रावक साधर्मिकोंसे कार्यवशात द्रव्य लेते हैं। वापस देते नहीं और परस्पर झगड़ते हैं। वे लोग विधि धर्मकी, लागमें झगडते हुए बडी भारी भींसणा निंदा को करवाते हैं ॥ ६१॥

जिणपवयण-अपभावण वट्टो
तउ सम्मत्तह वत्त वि फुट्टो ।
जुत्तिहि देवदव्वु त भज्जइ
हुतउ मग्गइ ता वि न दिज्जइ ॥६२॥

अर्थ - कर्जदार का कर्ज न चुकाने पर और झगड़ने पर श्री जिनशासनकी महत्ती अप्रभावना होती है फिर उस हालतमें सम्यक्त्वकी बात तो मानो डूब ही जाती है। ऐसा करने वाला श्रावक परंपरासे देव द्रव्यका नाश करने वाला होता है। क्योंकि श्रावकका धन कालांतरमें सात क्षेत्रोंमें लगता है। लेकिन कर्ज न चुकाने वैसा अवसर आने नहीं देता अत यह देवद्रव्यका भक्षक माना जाता है। जो कि अपने पास धनके होने पर भी कर्जदार का कर्ज नहीं चुकाता ॥ ६२ ॥

बेट्टा बेट्टी परिणाविज्जहिं
ते वि समाणधम्म घरि दिज्जहिं ।
विसमधम्म-घरि जइ वीवाहइ
तो सम (म्म) त्तु सु निच्छइ बाहइ ॥६३॥

अर्थ- गृहस्थ लोग बेटा बेटी समान कुल शील वालोंके साथ व्याहते हैं। श्रावको को चाहिये कि समान धर्म वाले को लड़की दें। विषम-दूसरे धर्मवालेसे अगर विवाह किया जाता है तो उससे निश्चय करके सम्यक्त्वमें बाधा पहुंचती है। ॥ ६३ ॥

थोडइ धणि संसारियकज्जइ
साहिज्जइ सव्वइ सावज्जइ ।
विहिधम्मत्थि अत्थु विव्विज्जइ
जेण सुअप्पु निव्वुइ निज्जइ ॥६४॥

अर्थ—श्रावकों को चाहिये कि संसार संबंधी सारे सावद्य सपाप कार्य थोडे धन का खर्च करके संपन्न करने चाहिये। विधि धर्म जिन पूजा संघपूजादि असावद्य-अपाप कार्यमें धन को अधिक खर्च करना चाहिये, जिससे कि आत्मा निवृत्ति मुक्तिमें पहुंचाया ॥ ६४ ॥

सावय वसहिं जेहिं किर ठावहिं
साहुणि साहु तित्थु जइ आवहिं।
भत्त वत्थ फासुय जल आसण
वसहिं वि दिंति य पावपणासण ॥६५॥

अर्थ– श्रावक लोग जिन गाव नगरोमे निवास करते है, वहा यदि साधु साध्वी विहार करते हुए आवे तो उनको प्रासुक आहार पानी वस्त्र पात्र आसन आदि देने चाहिये। एव रहनेके लिये वसति स्थान भी देना चाहिये जिनसे कि पापोका नाश और धर्मका भला होता है॥ ६५ ॥

जइ ति वि कालुच्चिय-गुणि वट्टहि
अप्पा परु वि धरहि विहिवट्टहिं।
जिण-गुरुवेयावच्चु करेवउ
इउ सिद्धतिउ वयणु सरेवउ ॥६६॥

अर्थ– अगर ये साधु साध्वी लोग भी कालोचित गुणोमे—सयम साधनामे वर्त्तमान हैं। आत्मा को और दूसरों को जो विधि मार्गमे स्थापित करते हैं, तो जिनदेव और गुरुओकी वेयावच्च करनी चाहिये। इस सिद्धात वचन को याद करना चाहिये॥ ६६ ॥

घणमाणुसु कुडुवु निव्वाहइ
धम्मवार पर हिट्ठउ वाहइ।
तिणि सम्मत्त-जलजलि दिन्नी
तसु भवभमणि न मइ निव्विन्नी ॥६७॥

अर्थ—जो गृहस्थ बहु परिवारी कुटुम्बका भली भाती निर्वाह करता है और धर्मके मौके पर नीचे देखने लग जाता है वह सम्यक्त्व को जलाञ्जलि देता है, और माना जाता कि उसकी बुद्धि भव भ्रमणसे खिन्न नहीं हुई॥६७॥

सधणु सजाइ जु ज्जि तसु भत्तउ
अन्नह सद्दिट्ठिहि वि विरत्तउ।
जे जिणसासणि हु ति पवन्न
सवि बधव नेहपवन्ना ॥६८॥

अर्थ—जो श्रावक धन वालेकी एव स्वजातीकी ही भक्ति करता है और दूसरे समान

धर्म सम्यक्त्वोसे भी विरक्ति रखता है। यह एकदम अयोग्य बात है। जो जिनशासन को मानते हैं वे सभी स्नेह पालन यह परस्पर अविशेष भावसे भाइ ही हैं। अतः समान धर्म वालोंमें भेदभाव करना सवथा ये ठीक है ॥ ६८ ॥

तसु ममत्तु होइ किम मुद्धह ?
जो नवि वयणि विलग्गइ बुद्धह।
तिन्नि चयारि छुत्तिदिण रक्खइ
स ज्जि सरावी लग्गइ लिक्खइ ॥६९॥

अर्थ—जो श्रावक साधर्मि बन्धुओंमें भेद भाव रखता है उस मुग्धात्माके सम्यक्त्व कैसे हो सकता है ? जो तीर्थकरदेव गीतार्थ गुरु आदिके पुनित वचनोंमें मन को लगता ? वही श्राविका-श्राविकाओंकी गिनती में आने योग्य होती है, जो पूरे तीन एवं चार दिन स्त्री की धर्म छूत को रखती है ॥६९ ॥

छुति य छुत्ति जल (पव) ट्ठइ संच्छइ
मा घर-धम्मह आवइ निच्छइ।
छुत्तिभग्ग घर छड्डइ देवय
सासणसुर मिल्लहिं विहिसेवय ॥७०॥

अर्थ—जो स्त्री रजस्वलाकी छूतके रहते हुए भी स्वच्छासे घर कामम एवं धर्ममें लगी रहती है वह स्त्री निश्चय करके उस घर और धर्मके ऊपर बड़ा भारी आपत्तिके समान हो जाती है। क्या छूत को तोड़नेसे घर को विधि धर्मके सेवक शासन देव छोड़ देते हैं और भूतप्रेतोंसे घर भर जाता है अतः घर भी नष्ट प्राय हो जाता है ॥ ७० ॥

पडिकमणइ वंदणइ आउल्ली
चित्त धरंति करेइ असुल्ली।
मणह मज्झि नवकारु विज्झायइ
तासु सुट्ठु ममत्तु वि रायइ ॥७१॥

अर्थ—जो रजस्वला स्त्री प्रतिक्रमणमें वंदनमें शुद्ध अक्षरोंका उच्चारण नहीं करती है। असंदिग्ध भावसे चित्तमें ही धारण करती है। मनमें ही नवकार मंत्रका ध्यान भी करती है उनमें सम्यक्त्व भी सुन्दर रूपसे शोभता है ॥ ७१ ॥

सावउ सावयछिदइ मग्गइ
तिणि सहु जुज्झइ धणबलि वग्गइ।

अलिउ वि अप्पाणउ सचावइ
सो समत्तु न केमइ पावइ ॥७२॥

अर्थ—श्रावक-श्राविकाके छिद्रो को ढूढे, उसके साथ लडे, धनबलसे राजदरबार चढे, झूठे भी आत्मा को सच्चा बनाने, वह सम्यक्त्व को किसी भी तरह नहीं पा सकता है ७२ ॥

विकियचयणु बुल्लइ नवि मिल्लइ
पर पभणतु वि सच्चउ पिल्लइ ।
अट्ठ मयट्ठाणिहिं वट्ठतउ
सो सद्दिट्ठि न होइ न सतउ ॥ ७३ ॥

अर्थ—जो गृहस्थ निकृष्ट—गाली गलौज आदि दुर्वचनोको ही बोलता है। सच बोलनेवाले को भी दूसरेको जो नहीं छोडता है, और पीडा पहुचाता है। आठ मदस्थानको वर्त्तता हुआ वह सम्यक्दृष्टि नहीं होता। कदाचित् हो जाता है तो सम्यक्त्व चिरस्थाई नहीं रहता। अथवा वह भले आदमियोकी कोटिमे नहीं रहता ॥७३॥

पर अणत्थि घल्लतु न सकइ
परधण-धणिय जु लेयण धखइ ।
अहियपरिग्गह—पावपसत्तउ
सो सभात्तिण दूरिण चत्तउ ॥७४॥

अर्थ—जो दूसरे को अनर्थमे डालते हुए शका नहीं करता है। जो परधन और परस्त्रीको अपनानेकी इच्छा रखता है। जो अधिकतया परिग्रहको पापमे लगा रहता है। उसको सम्यक्त्व भी दूरसे ही त्याग देता है ॥७४॥

जो सिद्ध त्तियजुत्तिहिं नियघरु
वाहि न जाणइ करइ विसवरु ।
कु वि केणइ कसायपूरियमणु
वसइ कुटुम्बि ज माणुसधणु ॥७५॥

अर्थ—जो गृहस्थ सैद्धान्तिक युक्तियोंसे गृहस्थोचित गुणोंसे अपने घरको चलाना नहीं जानते, व अपने गृहस्थ धर्मको विसस्थुल असमन्वित क्लेशमय बनादेते हैं। क्योंकि घर्मे मनुष्योंवाले कुटुम्बमे कोइ किसी कारणसे क्रोध मान माया-लोभ इन कषायोंसे भर

जाता है। अगर गृहपति ठीक हो तो उनको भी निभालेता है और जीवन क्लेशमय नहीं होने देता है ॥७५॥

तसु सत्थु मुणि अणुवत्तिज्जइ
कु वि दाणिण कु वि वयणिण लिज्जइ।
कुवि भएण करि पाणु धरिज्जइ
सगुणु जिट्ठु सो पइ ठाविज्जइ ॥७६॥

अर्थ—गृही निवासको सुखमय रखनेके लिये यह जरूरी है कि उन कुटुम्बियोंके स्वरूपको भली-भाँती जानकर उनके साथ अनुवर्त्तन व्यवहार करना चाहिये। किसीको कुछ देकर, किसीको कुछ वचन सुनाकर, किसीको कुछ भय दिखाकर, किसीको मर्यादित बलात्कारसे भी शांत बनाना चाहिये। कुटुम्ब में जो अधिक गुणवान हो विवकी हो उनको ज्येष्ठ पद पर यानि—हरेक काममें लगे देने योग्य स्थापित करदेना चाहिये। ॥७६॥

जुट्टह धिट्ठह न य पत्तिज्जइ
जो असत्तु तसुवरि दइ किज्जइ।
अप्पा परह न लक्खाविज्जइ
नप्पा विणु कारणि खाविज्जइ ॥७७॥

अर्थ—झूठ बोलनेवाले और धीठे व्यक्तियोंका विश्वास नहीं करना चाहिये। जो असमर्थ हैं उनपर दया करनी चाहिये। शोकके कारणोंके उपस्थित हो जानेपर चेहरे पर वे भाव आने देने न चाहिये। बिना कारण बिना विशेष लाभके राजकर्म चारियोंसे सम्बन्ध नही रखना चाहिये। क्याकि ऐसे सम्बन्धोंके साथ काफी प्रपंच बढ़ जाते हैं ॥७७॥

माय-पियर ज धम्मि विभिन्ना
ति वि अणुवित्तिय हुति ति धन्ना।
जे किर हुति दीहससारिय
ते कुल्लत न ठंति निवारिय ॥७८॥

अर्थ—जो माता पिता अन्य धर्मको मानते हैं, यदि व विधि मार्गके अभिमुख हो जाय तो धन्य है। यदि कदाचित् दीर्घ ससारी भावके कारण विधिमार्गसे विपरीत बातें बोलते हुए रोकने पर भी नहीं रुकते है तो उनपर क्रोध नहीं लाना चाहिये ॥७८॥

ताहि वि कीरइ इह अणुवत्तण
भोयण-वत्थ—पयाण पयत्तिण।

तह वुल्लतह नवि रूसिज्जइ
तेहि समाणु विवाउ न किज्जइ ॥७९॥

अर्थ—उन भिन्न धर्मवाले भी माता पिताकी अनुवर्त्तना भोजनवस्त्र आदिसे करनी चाहिये, क्योंकि उनका उपकार दुष्प्रतिकरणीय है। कदाचित् वे बुरी बात भी कहदें तो भी रोष नहीं करना चाहिये, और न विवाद ही करना चाहिये ॥७९॥

उपदेशके उपसहारमें उपदेश फल बताते हैं—

इय जिणदत्तुवएयसरसायणु
इह-परलोयह सुक्खह भायणु।
कण्णजलिहिं पियति जि भव्वइ
ते हवति अजरामर सव्वइ ॥८०॥

अर्थ—इस प्रकार जिनदत्त—श्रीतीर्थंकर देवों द्वारा दिये हुए उपदेश रूप रसायनको-जो कि इसलोक परलोकमें सुखका भाजन सुखको देनेवाला है। उसको जो भव्यात्मा कर्णा-जलिसे पीते हैं व सभी अजर और अमर पदके अधिकारी हो जाते हैं ॥८०॥

⊛ इति उपदेश रसायन समाप्त ⊛

श्री जिन दत्त सूरि विरचितम्

॥ कालस्वरूपकुलकम् ॥

पणमवि वद्धमाणु जिणवल्लहु
परमप्पयलच्छिहि जिणवल्लहु ।
सुगुरूवएसु देमि हउ भव्वह
सुक्खह कारणु होइ जु सव्वह ॥१॥

अर्थ—अवधिजिनादिकके वल्लभ, परमपद-मोक्ष लक्ष्मीके विजयी स्वामी श्री जिनवल्लभ वर्द्धमान भगवान महावीर देवको प्रणाम करके, महोपकारी परम गुरु श्री जिनवल्लभ सूरीश्वरजी महाराजको प्रणाम करके सद्गुरु महाराजका बताया हुआ उपदेश भव्यात्माओंको देता हू। जो सबके सुखका कारण होता है।

मीण सणिच्छरमि सकतइ
मेसि जति पुण वक्कु करतइ ।
देस भग्ग परचक्क पइट्ठा
वड वड पट्टण ते पब्भट्ठा ॥२॥

अर्थ—मीन राशिमे शनिश्चरके सक्रान्त होनेपर और फिर मेष राशिमें जाते हुए वक्रता करने पर बड़े २ देश नष्ट हो गये। पर चक्रोंका उपद्रव बढ गया। बड़े २ शहर जो थे व भी नष्ट हो गये ॥२॥

विक्कमसवच्छरि सय बारह
हुयइ पणट्ठउ सुहु घर बारह ।
इह (य) ससारि सहाविण सतिहि
वत्तहि सुम्मइ सुक्खु वसतिहि ॥३॥

अर्थ—विक्रम सवत बारहसो के करीब ऐसा काल आया कि घरके दरवाजोसे सुख मानों भाग हो गया। इस प्रकारके ससारी स्वरूपके होनेसे सज्जन पुरुषोंकी बातोंसे ही सुख ससारियों को सुनने को मिलता है ॥३॥

तह वि वत्त नवि पुच्छहि धम्मह
जिण गुरु मिल्लहि कज्जिण दम्मह।
फलु नवि पावहि माणुसजम्मह
दूरि हुंति ति ज्जि सिवमम्मह ॥४॥

अर्थ—इस प्रकारके ससार स्वरूपके होनेपर भी धर्मकी बात भी कोई नहीं पूछता है। द्रव्यके लिये देव और गुरुको भी लोग छोड देते हैं। मनुष्य जन्मके फलको नहीं पाते हैं। और मोक्ष सुखसे भी व लोग दूर हो जाते हैं ॥४॥

मोहनिद्द जणु सुत्त न जग्गइ
तिण उट्ठिवि सिवमग्ग न लग्गइ।
जइ सुहत्थु कु वि गुरु जग्गावइ
तु वि तव्वयणु तासु नवि भावइ ॥५॥

अर्थ—मनुष्य मोह निद्रासे सोता हुआ नहीं जागता है। इसी लिये उठ करके मोक्ष-मार्गमें भी नहीं लगता है। यदि सुखके लिये या शुभ-हितके लिये कोई सुगुरु जगाते हैं, तो भी उनके वचन उसको नहीं रुचते हैं। है यह मोह की लीला ॥५॥

परमत्थिण ते सुत्त वि जग्गहि
सुगुरु-वयणि जे उट्ठेवि लग्गहिं।
राग दोस मोह वि जे गजहि
सिद्धि-पुरंधि ति निच्छइ भुंजहि ॥६॥

अर्थ—सद्गुरु महाराजके वचनोंको सुनकर सुविधिमार्ग में जो मनुष्य लगते हैं वे परमार्थसे द्रव्य निद्रासे सोते हुए भी जगते हैं। राग द्वेष और मोह को वे जीतते हैं। एव निश्चय करके वे सिद्धि सुन्दरी को भोगते हैं ॥६॥

बहु य लोय लुंचियसिर दीसहिं
पर राग-दोसिहिं सहुँ विलसहिं।
पढहिं गुणहिं सत्थइ वक्खाणहि
परि परमत्थु तित्थु सु न जाणहि ॥७॥

अर्थ—बहुतसे लोग लुञ्चित-मुण्डित सिर वाले साध्वाभास दिखाई देते हैं। परन्तु राग द्वेषके साथ उनकी चेष्टाय दीसती हैं। वे लोग शास्त्रोंको पढते हैं, गुणते हैं, व्याख्यान करते हैं। परन्तु उनमे रहे हुए परमार्थ—सत्तत्वको सचारित्रके अभावमें नहीं जानते हैं ॥७॥

तिणि वेसिणि ते चार रिहिल्लिउ
मुसहि लोउ उम्मग्गिण घल्लिउ।
ताह पमत्तउ किवइ न छुट्टइ
जो जग्गइ मद्धम्मि सु वट्टइ ॥८॥

अर्थ– उस उस साधु वेषसे वे चोरोंका सा व्यवहार करते हैं। लोगोंको ठगते हैं, और उन्मार्गमें डाल देते हैं। उन लिंगधारियोंसे भोला भाला-प्रमत्त संसारी प्राणी वह किसी प्रकारसे नहीं छूट सकता। जो ऐसे चोरोंसे सज्जन सावधान रहता है, वही विधि मार्ग रूप सद्धर्ममें प्रवृत्ति करता है ॥८॥

तं वि चार गुरु किया सुबुद्धिहि
सिववहुसगमसुहरसलुद्धिहि।
ताहि वि खावहि अप्प-उपासह
छुट्टइ कह वि न जिव भवपासह ॥९॥

अर्थ– शिवसुन्दरीके संगम सुखके रसमें लुब्ध मुग्धात्माओंने अविवक पूर्ण अपनी बुद्धिसे उन भाव चोरोंको भी गुरु किये हैं। उन उपासकों को भी वे कुगुरु लोग स्वार्थ साधना करते हुए इस प्रकार खाते हैं कि वे संसारी जंजालसे किसी भी तरहसे बिचारे छूटते नहीं हैं ॥९॥

दुद्धु होइ गो-यक्किहि धवलउ
पर पेज्जतइ अतरु बहुलउ।
एक्कु सरीरि सुक्खु सपाडइ
अवरु पियउ पुणु मसु वि साडइ ॥१०॥

अर्थ– गायका दूध और आकडेका दूध ये दोनों ही होते तो सफेद ही हैं। परन्तु पीने पर इनमें बडा भारी अंतर दीखता है। गायका दूध तो शरीरमें सुख पुष्टि पैदा करता है, तो दूसरा आकडेका दूध पीने पर मांसको ही—सारे शरीरको सडा देता है ॥१०॥

कुगुरु सुगुरु सम दीसहिं बाहिरि
परि जो कुगुरु सु अतरु बाहि रि ?।
जो तसु अतरु करइ वियक्खणु
सो परमप्पउ लहइ सुलक्खणु ॥११॥

अर्थ—कुगुरु और सुगुरु भी बाहिरसे उपरसे समान रूप ही दीखते है। परन्तु अरे भोले प्राणी कुगुरु तो अदरुनी—भीतरी व्याधि है जो उपर नहीं दीखती। जो विचक्षण कुगुरु सुगुरु इन दोनोंमें जुदाई कर देता है वह शुभ लक्षण सपन्न भव्यात्मा परम पदको पाता है॥११॥

जो धत्तूरयफुल्लु समुज्जलु
पिक्खिवि लग्गउ तित्थु समुज्जलु।
जइ सो तसु रसु पियणह इच्छइ
ता जगु सव्वु वि सुन्नउ पिच्छइ॥१२॥

अर्थ—धतुरेके फूलको समुज्ज्वल देखकर जो जडात्मा समुद खुश होकर उसमे लगता है। एव यदि उसके रसको पीना चाहता है पीता है, तो सारा जगत ही उसको शून्यसा या सोनेका सा दीखता है। धतुरेके फूलके जैसे कुगुरु भी उपरसे अच्छे दीखते है परन्तु परिणाममें भयकर होते हैं॥१२॥

इय मणुयत्तु सुदुल्लहु लद्धउ
कुल-बल-जाइ-गुणेहिं समिद्धउ।
दस दिट्ठत इत्थ किर दिन्ना
इहु निप्फलु ता नेहु म धन्ना॥१३॥

अर्थ- कुल बल जाति एवं गुणोसे समृद्ध यह मनुष्यत्व बडे दुःखसे मिला है। इसके लिये शास्त्रोंमें दश दृष्टान्त भी बताये है। ऐसे दश दृष्टान्तोंसे भी दुर्लभ इस मनुष्य जन्मको हे धन्यात्माओं। निपफल मत बनाओ॥१३॥

लद्धि नरत्ति अणारियदेसेहिं
को गुणु तह विणु सुगुरुवएसिहिं।
आरियदेस जाइ-कुलजुत्तउ
काइ करेइ नरत्तु वि पत्तउ॥१४॥

अर्थ—अनार्य देशमें सद्गुरु महाराजके पवित्र उपदेशोंके विना पाया हुआ भी मनुष्य जन्म क्या गुण कर सकता है? कुछ भी नहीं। आर्य देशमे अच्छी जाति एव कुलके सपन्न भी मिला हुआ नर जन्म क्या फायदादायक हो सकता है॥१४॥

जहि किर आउ होइ सखित्तउ
तित्थु न कज्जु पसाहइ वुत्तउ।

त पि बहुत्तु होइ जइ पुन्निहि
जिन्थु गुरुत्तु सुणिज्जइ कन्निहि ॥१५॥

अर्थ—जिस नर जन्मम आयुष्य संक्षिप्त थोड़ा हो, उसमें श्री जिनेश्वर देवों द्वारा फरमाये हुए ज्ञानदर्शन चारित्र आदि कार्यों की साधना नहीं हो सकती। उस जन्मसे भी क्या ? हां यदि वह आयुष्य पुन्यसे बड़ा हो, और उसमें सद्गुरुके फरमाये उपदेश कानोंसे सुने जांय ॥१५॥

सद्दहाणु तव्वयणु सुणतह
विरला कसु वि होइ गुणवतह।
पढहिं गुणहिं सिद्धतु बहुत्तइ
सदहाणु पर नत्थि जिणोत्तइ ॥१६॥

अर्थ- श्री सद्गुरुके उपदेशको सुनते हुए भी किसी विरले गुणवानको ही उसपर दृढ श्रद्धा होती है। बहुत लोग ऐसे है जो पढते हैं, गुणते हैं परन्तु श्री वचनोंमें उनकी श्रद्धा नहीं होती ॥१६॥

अविहि पयट्टहि विहिपरु दूसहि
पडिउ पवाहि लोउ सु पससहि।
अणुसोयह पडिसोयह अतरु
न कुणहि खवणय जेव निरतरु ॥१७॥

अर्थ- अविधिसे प्रवृत्ति करते है। विधि करने वालोंको दूषित करते हैं। प्रवाह पतित लोगोंकी प्रशंसा करते है। अनुस्रोत और प्रतिस्रोतका भेद नहीं करते हैं। किन्तु क्षपणक के नगके जैसे विशेषताके अभावको करते है अर्थात् सबको एक भाव समझते हैं ॥१७॥

करिवि जिणोत्ति धम्मि जण लग्गा
दूरिणी जति सुगुरु सुइभग्गा।
विहिपह—परम्वइ जिणु मुणि वदहि
त मग्गहिउ जणु अहिणदहि ॥१८॥

अर्थ—कई मन्दबुद्धिवाले अविधि क्रियाको भी यह जिनोक्त धर्म है ऐसा करके उसमें लगते है। सद्गुरुके उपदेश श्रवणसे दूर भागते हैं। विधि पक्षको छोड़ अविधि चैत्य और अविधि प्रवर्तक नामधारी मुनियों को वदते है। एवं अविधिमार्ग स्थित लोगोंका अभिनदन करते है ॥१८॥

जमणाययणु जिणेहि निढसिउ
त वंदहि वहुलोयनमसिउ ।
जे रयणित्यि लोय ते थोवा
अइसउ न मुणवि अतरु धोवा ॥१९॥

अर्थ—तीर्थंकर देवोंने जो अनायतन वताया है, उसको बहुवलोक नमस्कार करते हैं अनायतको वदन करते हैं। ठीक ही है रत्नोंने अर्थी – ग्राहक थोड ही होते हैं। रत्नोंके और पत्थरके अन्तरको मूढलोग नहीं जान सकते हैं ॥१६॥

पारतंतु विहिविसउ न बुज्झहि
जो परियाणइ तिणि सहु जुज्झहिं ।
सो भसमग्गहगहिउ निरुतउ
दुसमच्छेरएण सो भुत्तउ ॥२०॥

अर्थ—पारतन्त्र – विधि और विषयको जो नहीं जानता है। एव जो जानता है उसके साथ वह लडता है। वह भस्मनामके ग्रुग्रहसे निश्चय करके ग्रस्त हुवा हुआ है, अथवा दशमाश्चर्यसे—असयति पूजा रूपसे भोगा गया है ॥२०॥

अहह ! हुंड अवसप्पिणि दुट्ठी
जह अस्सजयपूइ पयट्ठी
तासु वि दुसम जाय सहाइणि
जव्वस हूय पय पावह भाइणि ॥२१॥

अर्थ—हा इति देवे ! यह हुडा अवसर्पिणी काल वडा दुष्ट है। जिसमें कि असयति असाधुओंकी पूजा मानता घुस रही है। उसके भी यह पांचवा आरा दुष्षम काल सहायक हो रहा है। जिसके प्रभाव से प्रजा पाप को भजने वाली हो रही है ॥२१॥

तह वि जहन्न वीस जा विरुई
ताण पयट्ठ गुणह गरुई ।
तासु अति सवच्छर जि हुया
खउ पाविय पय पुण तहिं बहुया ॥२२॥

अर्थ—उसमे जो जघन्य वीसी है वह भी विरूप हो रही है। गुणों की वडी भारी प्रतिष्ठा भी उनमे नष्ट हो रही है। उस जघन्य विंशति के अत मे जो सवत्सर-वर्ष आये उन म भी वहुत प्रजा ॥२२॥

ईसर धम्म—पमत्त जि अच्छहि
पाउ करेवि ति कुगइहिं गच्छहिं।
धम्मिय धम्मु करति जि मरिसिहि
ते सुहु सयलु मणिच्छिउ लहिसिहिं ॥२३॥

अर्थ—ऐश्वर्य सपन्न लोग जो धर्म में प्रमादी रहते हैं वे पाप को कर के कुगति में जाते हैं। धार्मिक लोग जो धर्म करते हुए मरण व मनचाहे समस्त सुखों को पायेगें ॥२३॥

पुन्नवत विहिधम्मि जि लग्गहिं
ते परमत्थिण जीवहि जग्गहिं।
अप्पु समप्पहि ते न पमायह
इह—परलोइ वि विहियावायह ॥२४॥

अर्थ- जो पुण्यवान् होते हैं वे विधि धर्म मे लगते हैं। वे मर कर के भी परमार्थ से जग म जीते हैं और जागते हैं। व लोग इस लोक और पर लोक में दुःख देनेवाले प्रमाद के आधीन आत्मा को नहीं सौंपते हैं ॥२४॥

तुम्हह इहु पहु चाहिलि दसिउ
हियइ बहुत्तु खरउ वीमसिउ।
इत्थु करेज्जहु तुम्हि सयायरु
लीलइ जिव तरेहु भवसायरु ॥२५॥

अर्थ—तुम लोगों को यही माग तुम्हारे पिता चोहिल ने हृदय में भली भांति शोच कर दिखाया है। इस लिये तुम लोग हमेशा इसी मार्ग में चलने की भावना रखो। जिस से कि ससार समुद्र को तुम लोग लीला मात्र में तिरोगे ॥२५॥ (१)

जहिं घरि नधु जुय जुय दीसइ
त घरु पडइ बहुतु न दीसइ।

—१ अणहिल पुर पाटन में चाहिल नाम का एक श्रावक था। जिस ने परीक्षा पूर्वक प्रभु श्रीजिन-दत्तसूरि जी महाराज को धर्माचार्य रूप से स्वीकारे थे। उनके चार बेटे यशोदेव आभू सासिग और सभव नाम के थे। काल दोष से व जुदा होना चहते थे। चाहिल ने उन में गुण नहीं देखते हुए गुरु महाराज को पुत्रों को शिक्षा दिलाने को इच्छा से विनती पत्र भेजा जिस के जवाब में यह कुलक धर्म देशना गर्भित लेख उन्होंने भेजा था। जिसको पढ़ कर चाहिल सेठ के चारों पुत्र प्रसन्नता के साथ एक से रहे चले, और विधि माग की आराधना करते रहे।

व्याख्याकार —

ज दढवधु गेहु त वलियउ
जडि भिज्ज तउ सेमउ गलिउ ॥२६॥

अर्थ—जिस घर में भाई लोग जूदे दीखते हैं वह घर कुल-परंपरा से अव्यच्छिन्न रूप से वहता हुआ नहीं दीखता बल्कि गिरा हुआ दीखता है। जिस घर में दृढ स्नेह वाले बंधु-भाई लोग रहते हैं वह घर बलवान्-टिकाउ माना जाता है। अगर किसी जड-मूर्ख व्यक्ति द्वारा भिन्न हो जाय तो थाकीरा सारा घर गल छिन्न भिन्न हो जाता है। दूसरे पक्ष में-जिस घर में बन्ध टूटे से दीखते हैं वह घर गिर जाता है। जिस में दृढ बन्धन होते हैं वह टिकाऊ होता है। जड जल से भेद होने पर गल जाता है॥२६॥

कज्जउ करइ बुहारी बद्धी
सोहइ गेहु करेइ समिद्धी।
जइ पुण सा वि जुय जुय किज्जइ
ता किं कज्ज तीए साहिज्जइ ॥२७॥

अर्थ—बंधी हुई बुहारी कचरे को इकट्ठा कर देती है। घरको साफ-शुद्ध और समृद्ध बना देती है। यदि वह जुदी जुदी की जाय तो उस से क्या काम सिद्ध हो सकता है। कुछ भी नहीं। यही हालत कुटुम्ब की है। संगठित होने पर सभी काम सिद्ध होते हैं और जुदा-२ हो जाने पर सारी कमजोरियाँ आ जाती हैं॥२७॥

पुणव्वसु हत्थि चडइ सो चित्तह
सोमु सूरु पुत्तु वि भावित्तह।
जो किर चित्तह मज्झि न पविसइ
जेट्ठह मूलि सु कहि किव होसइ ॥२८॥

अर्थ—जो सौम्य-प्रशान्त और शूर तेजस्वी प्रकृति वाला पुत्र अपने विनय गुण से माता पिता आदि सभी के चित्तों में स्थान पा लेता है उसके हाथ में संपत्ति आती है। जो अपने गुणों से लोगों के चित्त में प्रवेश नहीं करता वह ज्येष्ठमूल-बड़े पद का अधिकारी कहो कैसे हो सकता है।। दूसरा अर्थ भी निकलता है पुनर्वसु, हस्त, चित्रा, विशाखा, ज्येष्ठा, मूल ये नक्षत्र हैं।

सोम चन्द्र-सूर-रवि, सोमपुत्र-बुध और रवि पुत्र शनि, ये ग्रह हैं। नक्षत्रों के साथ ग्रहों का सम्बन्ध क्रम से होता है अक्रम से नहीं। इसी प्रकार पुरुष भी उत्तरोत्तर संपत्ति को पाते हुए ज्येष्ठमूल बड़े आदमी बन जाते हैं। एकदम नहीं॥२८॥

लोहिण जडिउ जु पोउ फुट्टइ
चुंबकु जहि पहाणु किव वट्टइ ।।
नेय समुदह पारु सु पावइ
अंतराल तसु आवय आवइ ॥२९॥

अर्थ—जिस समुद्रमे लोह चुंबक पाषाण पड हुए हों उसमे लोह जडित जहाज कैसे चल सकता है, वह तो फूटता ही है। समुद्र पार वह नहीं पहुचता बीच में ही उसके लिये तो आपत्ती – सर्वनाश की घडी आ जाती है। इसी प्रकार जो गृहस्थ लोभसे जडीभूत हो जाता है—वह ससारके चुबक प्रलोभनों म पडकर सुखमय जिन्दगी नहीं बिता सकता उसे बीचमें ही आपत्तियाँ आ घेरती है ॥२९॥

लोहिण रहिउ पोउ गुरुसायरु
दीसइ तरंतु जइ वि जडवायरु ।
लाहउ करइ सु पारु वि पावइ
वाणियाह धणरिद्धि वि दावइ ॥३०॥

अर्थ—लोह रहित जहाज बडे भारी समुद्रको पार करता हुआ दीखाता है। यद्यपि उसमें जल-वायु अधिक हो तो भी जहाज लाभ सपन्न भी होता है और, पार भी पाता है। एव वनियो की धन सपत्ति को भी दिखाता है। दूसरे पक्ष मे—लोभरहित व्यक्ति गुरुओंके प्रति आदर सहित भाव वाला होता हुआ ससार समुद्र से तैरता हुआ दीखाता है। यद्यपि जडवादी लोक अधिक होने पर भी अपनी धूनम पक्का रहता है। वह व्यापारादि से लाभ भी पाता है और उसका उपयोग दानादि मे करता हुआ पार भी पाता है तथा, व्यापारियों की धन ऋद्धि रीति—नीतिको भी दीखाता है ॥३०॥

जो जणु सुहगुरु—दिट्ठिहि दिट्ठउ
तसु किर काइ कारइ जमु रुट्ठउ ? ।
जसु परमेट्ठि—मतु मणि सिवसइ
सो दुहमज्झि कया वि न पइसइ ॥३१॥

अर्थ—ऊपर बताये ढगका जो सद्गृहस्थ जन सद्गुरु महाराज की दयादृष्टि से देखा गया है उसका रुष्ट हुआ यमराज भी क्या कर सकता है ? । जिसके मनमें परमेष्ठी मत्र रहता है, वह दु खोंमें कभी नहीं पडता। दूसरे पक्षमें—जिस जनमे गुरु की दृष्टि ठीक ... भी क्या कर सकता है ? कुछ नहीं ॥३१॥

इय जिणदत्तुवएसु जि निसुणहि
पढहि गुणहि परियाणवि जि कुणहि ।
ते निव्वाण—रमणी सहु विलसहि
वलिउ न ससारिण सहु मिलिसिहिं ॥३२॥

अर्थ—इस प्रकार जिनदत्त—अरिहतो के दिये हुए उपदेश को जो सुनते हैं पढते हैं गुणते हैं जानकर आचरण करते हैं व निर्वाण - सुन्दरीके साथ विलास करते हैं अजरामर को पाये बाद लोट कर ससार के दु खों के साथ नहीं मिलते । इस श्लोकमे प्रकारान्तर से कर्त्ताने अपना नाम (जिनदत्त सूरि) यह सूचित किया है ॥३२॥

⊛ इति कालस्वरूपकुलकम् समाप्तम् ⊛

श्री श्री १ ८ श्री मज्जिनदत्त सूरीश्वर विरचितम्—

॥ चैत्यवन्दन कुलकम् ॥

अपर नाम सम्यक्त्वारोप प्रकरणम् ॥

मूल——नमिऊणमणतगुण, चउवयण जिणवर महावीर ।
पडिवन्न-दसणाण सरवमिह कित्तइस्सामि ॥१॥

अर्थ—अनन्त गुण वाले समवसरण में चार मुख वाले एवं दान शील तप भाव रूप चार वचनो से भेदों से धर्म को बताने वाले, राग द्वेष जीतने वाले, जिन—सामान्य केवलियोंमें प्रधान—जिनेश्वर श्रीमहावीर देव को नमस्कार करके प्राप्त किया है दर्शन—सम्यक्त्व जिनने ऐसे श्रावकों का स्वरूप यहा—इस प्रकरणमें मैं बताऊँगा ॥१॥

मूल——तिविहा य हुति वासा, दुविहा ते हुति दव्वभावेहिं ।
दव्वम्मि दुविहा ते वि हु, गासपवाहेसु विन्नेया ॥२॥

अर्थ—व्रतधारि श्रावक अपने लिये गुरु बनाते समय तीन प्रकार से वासक्षेप गुरु महाराज से लिया करते हैं। उनमे मुख्यतया द्रव्य से और भावसे ये दो भेद होते हैं। द्रव्य में भी दो प्रकारसे लिया जाता है। उन गुरुका वासक्षेप हमारे धनधान्य को बढावेगा इस भाव से लिया हुआ वासक्षेप—ग्रास वासक्षेप माना जाता है। और बिना सोचे समझे सभी लेते हैं अत मै भी लेलूँ। यह प्रवाह वासक्षेप है। ये दोनों द्रव्य वासक्षेप के भेद हैं ॥२॥

मूल——भावमि य सुहगुरुपारततवसओ, सया वि विसयमि ।
विहिणा जिणागमुत्तेण, जेसिं सम्मत्त-पडिवत्ती ॥३॥
तेसु सुवासा ते हुति, परमपयवासहेऊणो जेण ।
जणियाणतप्पणगा, सयलकिलेसतकरणखमा ॥४॥

अर्थ—संवेगी एवं गीतार्थ ऐसे श्री सद्गुरु महाराज श्री[1] परतंत्रता के साथ और उन्हीं की सेवा में तत्परता के साथ सदैव श्रीतीर्थंकरदेव गणधर युगप्रधान आचार्य महाराज आदि के विषय[2] में भक्ति बहुमान करना चाहिये। एवं उन्हीं के पास श्रीजिनागम में फरमाई हुई आवश्यक[3]—चैत्यवंदन - स्वाध्याय—अपूर्व पठन—सद्ध्यान—साधर्मिक वात्स—ल्यादि—विधि से जिन भव्य जीवोंके सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है। उन्हीं भव्यात्माओंके परम पद—मोक्ष पद के निवास हेतु, अनंत ज्ञान अनंत दर्शन अनन्त सुख, अनंत वीर्य और अनंत सम्यक्त्व इन पाँच अनन्तों को पैदा करने वाले, एवं समस्त क्लेशों का दुःखोंका अन्त करने में समर्थ ऐसे भाव से सुवास—अर्थात् सद्गुरु महाराज के डाले हुए—भाव वासक्षेप होते हैं ॥३-४॥

मूल—आययणमनिस्सकड, विधिचेइयमिह तिहा सिवकर तु।
उस्सग्गओववाया, पासत्थोसन्नसन्निकय ॥५॥
आययण निस्सकड, पव्वतिहीसु च्च कारणे गमण।
इयराभावे तस्सत्ति, भाववुड्ढित्थमोसरण ॥६॥

अर्थ—जिस से सम्यग् दर्शन—ज्ञान—चारित्रादि गुणों का लाभ होता है। अथवा जहाँ साधु नहीं रहते हैं उसको आयतन कहते हैं। वह भी जाती—ज्ञाती आदि के ममत्व से रहित हो तो अनिश्राकृत माना जाता है। जिस में श्रीजैनागम प्रणीत गीतार्थ गुरु प्रदर्शित विधि आचरित किया जाता है उसको विधि चैत्य कहते हैं। इस प्रकार तीन विशेषणों से विशिष्ट देव मन्दिर शिव मोक्ष को करने वाला निश्चय से होता है। अतः सम्यक्त्व संपन्न भव्यात्मा श्रावकों को वहाँ सदैव जाना चाहिये। यह उत्सर्ग मार्ग राज मार्ग है। पार्श्वस्थ और अवसन्न शिथिलाचारी साध्वाभासों के नाम जैन भक्तों द्वारा बनाये हुए मंदिरमें जहाँ की साधु वेष धारी नहीं रहते हैं। केवल उनकी देख रेख में जिसका हिसाब किताब चलता है—जिसको सूत्रकार निश्राकृत आयतन—मंदिर मानते हैं-उसमें अपवाद से पर्व तिथियों में और कारण उपस्थित होने पर जाना चाहिये। हमेशा नहीं। आयतन—अनिश्राकृत विधि—चैत्यके अभाव में उन श्रावकों की भाववृद्धि के लिये सुविहित साधुओं को उस में जाकर व्याख्यान करना चाहिये ॥५-६॥

१—गुरुगुणसपयओ पारतत इह विणिद्दिट्ठ।
तंसि परतनम्हि, अणुट्ठाण होइ कायव्व ॥

२—विसआ पुण तित्थयरा आयरिया गणहरा जुगप्पवरा।
आणामायणाय भत्ती बहुमाणो होइ कायव्वो ॥

३—आवस्सयचिइवदण, सज्झायापुव्वपढणसज्झाण।
साहम्मिय-वच्छल्ल, एवमाइ विही भणिओ ॥

विधि चैत्य के होते हुए निश्राकृत चैत्यमें हमेशा जाने से प्रायश्चित लगता है यह बताते हैं—

मूल—विहिचेइयमि सन्ते, पइदिणगमणे य तत्थ पच्छित्त ।
समउत्त साहूण पि, किमगमरलाण सड्ढाण ॥७॥

अर्थ—जहां कहीं विधि चैत्य के वर्तमान होते हुए उन पार्श्वस्थावसन्न साध्वाभासों के निश्राकृत चैत्य मे प्रति दिन जाने से साधुओं के लिये भी शास्त्रकारों ने प्रायश्चित फरमाया है। इसी से शास्त्रीय शक्ति से निर्बल ऐसे श्रावकों के लिये तो कहनाही क्या? अर्थात् उनको तो वहां हमेशा जाने में पद २ पर प्रायश्चित्त का अधिकारी होना ही पड़ता है। अत ऐसे निश्राकृत चैत्य मे हमेशा नहीं जाना चाहिये। अपवाद से कभी कभी जाने की आज्ञा है ॥७॥

अब सम्यग्दृष्टि श्रावक साधुओं को जहां कदाई नहीं एसे चैत्यका स्वरूप बताते हैं—

मूल—मूलुत्तरगुणपडिसेविणा य, ते तत्थ सति वसहिसु ।
तमाणाययण सुत्ते, सम्मत्तहर फुड वुत्त ॥८॥

अर्थ—साधुओं के पञ्चमहाव्रतादि मूल—खास गुणों के एव पिण्ड विशुद्धि आदि उत्तर गुणों के प्रतिकूल आचरण करने वाले—मूलोत्तर गुण प्रति सेवी साधु वेश मात्र धारण करने वाले द्रव्यलिंगी जहां—वसतिओ म स्थानो में मन्दिरों म रहते हैं। उस स्थान को सूत्रों म स्पष्टतया सूत्रोंमे सम्यक्त्व नाशक फरमाया है ॥८॥

१—जत्थ साहम्मियया बहवे, भिन्नचित्ता अणारिया ।
मूलगुणपडिसेवी, <u>अणाययण</u> त वियाणहि ॥१॥
जत्थ साहम्मिया सन्वे, भिन्नचित्ता अणारिया ।
उत्तरगुणपडिसेवी, <u>अणाययण</u> त वियाणहि ॥२॥
जत्थ साहम्मिया बहवे, भिन्नचित्ता अणारिया ।
लिंगवेस पडिच्छिन्ना, <u>अणाययण</u> त वियाणहि ॥३॥

अर्थ—जहां जुदे जुदे चित्तवाले अनार्यप्राय मूलोत्तर गुणके प्रतिकूल आचरणवाले एव जुदे जुदे लिंगवेश धारक समानधर्मी साध्वाभास रहते हैं वह <u>अनायतन</u> नहीं जाने योग्य स्थान होता है।

मूल—जत्थ वसति मढाइसु, चियदव्वनियोगनिम्मिएसु च ।
साहम्मिणो त्ति लिंगेण, सा थली इय पकप्पुत्त ॥९॥
तमाणाययण फुडमविहिचेइयं, तत्थ गमण पडिसेहो ।
आवस्सयाइ सुत्ते, विहिओ सुसाहु-सड्ढाणं ॥१०॥

अर्थ—जहाँ चैत्यद्रव्य-देवद्रव्य के उपयोग से बने हुए मठ-उपाश्रय आदि में लिंगसे वेशसे सार्धमिक साध्वाभास रहते हैं उसको साधर्मिक स्थली श्रीनिशीथ सूत्र में बताई है। जैसे थली को नमस्कार आदि निष्फल होता है ठीक वैसे ही द्रव्यलिंगी साध्वाभासों से परिगृहीत चैत्यप्रतिमादि वन्दनभी निष्फल होता है। वह स्पष्ट रूप से अनायतन अविधि चैत्य होता है। वहाँ जानेके लियेभी आवश्यक आदि सूत्रों मे सुविहित साधु और तदनुयायी श्रावकों को[1] निषेध किया गया है ॥९-१०॥

मूल—जो उस्सुत्त भासइ, सद्दहइ करेइ कारवे अन्न ।
अणुमन्नइ कीरत, मनसा वायाए काएण ॥११॥
मिच्छदिट्ठी नियमा, सो सुविहियसाहुसावएहिं पी ।
परिहरणिज्जो जद्दसणे वि, तस्सेह पच्छित्त ॥१२॥

अर्थ—जो व्यक्ति साधु या श्रावक उत्सूत्र बोलता है। वैसी श्रद्धा रखता है और वैसे ही आचरण करता है, दूसरों से भी वैसे ही आचरण करवाता है एव कराते हुए उत्सूत्र मूलक आचरण का मन वचन और काया से अनुमोदन करता है, वह व्यक्ति नियम से-निश्चय करके मिथ्यादृष्टि होता है। सुविहित-आगमानुसारी आचरण करने वाले साधु एव श्रावको को उन उत्सूत्र आचरण वाले व्यक्ति का दूर से ही परिहार-त्याग कर

१—अत एव श्रीआशापल्यां पूर्व सैद्धान्तिक चक्र चूडामणिभिर्वादी द्विपद (द्वीप) घटा विद्रावण केसरिभिनिरुद्ध शुद्धक्रियाकारिभि श्रीजिनपतिसूरिभि श्रीप्रद्युम्नसूरिभि सहायतनानायतनवाद इमर्वाणे सकलाचार्यचक्रप्रत्यक्ष औघनियुक्त्यादि सिद्धान्तानुसारेण सविस्तरमायतन संस्थाप्यानायतन निराचक्रे, अतो अनायतन परिहारे सत्साधुभि सम्यग्दृष्टि श्रावकैश्च यतितव्यम्। इति टीकाकार

अर्थात्

आशापल्ली में सैद्धान्तिकचूडामणि श्रीजिनपतिसूरीश्वरजी ने श्रीप्रद्युम्नसूरि जी के साथ आयतन अनायतन के संबध में औघनिर्युक्त्यादि आगमों के अनुसार आयतन को स्थापित कर अनायतन का निराकरण किया था। यह इतिहास पट्टावली में भी मिलता है।

विधि चैत्य के होते हुए निश्राकृत चैत्यमें हमेशा जाने से प्रायश्चित्त लगता है यह बताते हैं—

मूल—विहिचेइयंमि सन्ते, पइदिणगमणे य तत्थ पच्छित्त ।
ममउत्त साहूण पि, किमगमल्लाण सड्ढाण ॥७॥

अर्थ - जहाँ कहीं विधि चैत्य के वर्त्तमान होते हुए भी पार्श्वस्थादिमन्न साध्वाभासों के निश्राकृत चैत्य में प्रति दिन जाने से साधुओं के लिये भी शास्त्रकारों ने प्रायश्चित्त फरमाया है। इसी में शास्त्रीय शक्ति से निर्बल ऐसे श्रावकों के लिये तो कहना ही क्या ? अर्थात् उनको तो वहाँ हमेशा जाने में पद २ पर प्रायश्चित्त का अधिकारी होना ही पड़ता है। अतः ऐसे निश्राकृत चैत्य में हमेशा नहीं जाना चाहिये। अपवाद से कभी कभी जाने की आज्ञा है ॥७॥

अब सम्यग्दृष्टि श्रावक साधुओं को जहाँ कतई नहीं ऐसे चैत्यका स्वरूप बताते हैं—

मूल—मूलुत्तरगुणपडिसेविणो य, ते तत्थ मंति वसहिसु ।
तमणाययणं सुत्ते, सम्मत्तहरं फुडं वुत्तं ॥८॥

अर्थ—साधुओं के पञ्चमहाव्रतादि मूल—नाम गुणों के एवं पिण्ड विशुद्धि आदि उत्तर गुणों के प्रतिकूल आचरण करने वाले—मूलोत्तर गुण प्रति सेवी साधु वेस मात्र धारण करने वाले द्रव्यलिंगी जहाँ—वसतिओं में स्थानों में मन्दिरों में रहते हैं। उस स्थान को सूत्रों में स्पष्टतया सूत्रोंमें सम्यक्त्व नाशक फरमाया है ॥८॥

१—जत्थ साहम्मिया बहवे, भिन्नचित्ता अणारिया ।
मूलगुणपडिसेवी, अणाययणं तं वियाणहि ॥१॥
जत्थ साहम्मिया सव्वे, भिन्नचित्ता अणारिया ।
उत्तरगुणपडिसेवी, अणाययणं तं वियाणहि ॥२॥
जत्थ साहम्मिया बहवे, भिन्नचित्ता अणारिया ।
लिंगवेस पडिच्छिन्ना, अणाययणं तं वियाणहि ॥३॥

अर्थ—जहाँ जुदे-जुदे वृत्तवाले अनार्यप्राय मूलोत्तर गुणके प्रतिकूल आचरणवाले एवं जुदे जुदे लिंगवेश भूषावाले समानधर्मा साध्वाभास रहते हैं वह अनायतन नहीं जाने योग्य स्थान होता है।

मूल—जत्थ वसति मढाइसु, चियदव्वनियोगनिम्मिएसु च ।
साहम्मिणो चि लिंगेण, सा थली इय पकप्पुत्त ॥९॥
तमाणाययण फुडमविहिचेइय, तत्थ गमण पडिसेहो ।
आवस्सयाइ सुत्ते, विहिओ सुसाहु-सड्ढाण ॥१०॥

अर्थ—जहाँ चैत्यद्रव्य देवद्रव्य के उपयोग से बने हुए मठ-उपाश्रय आदि में लिंगसे वेशसे साधर्मिक साध्वाभास रहते हैं उसको-साधर्मिक स्थली श्रीनिशीथ सूत्र में बताई है। जैसे थली को नमस्कार आदि निष्फल होता है ठीक वैसे ही द्रव्यलिंगी साध्वाभासों से परिगृहीत चैत्यप्रतिमादि वन्दनभी निष्फल होता है। वह स्पष्ट रूप से अनायतन अविधि चैत्य होता है। वहाँ जानेके लियेभी आवश्यक आदि सूत्रो मे सुविहित साधु और तदनुयायी श्रावकों को[1] निषेध किया गया है ॥९-१०॥

मूल—जो उस्सुत्त भासइ, सद्दहइ करेइ कारवे अन्न ।
अणुमन्नइ कीरत, मनसा वायाए काएणं ॥११॥
मिच्छद्दिट्ठी नियमा, सो सुविहियसाहुसावएहिं पी ।
परिहरणिज्जो जइसणे वि, तस्सेह पच्छित्त ॥१२॥

अर्थ—जो व्यक्ति साधु या श्रावक उत्सूत्र बोलता है। वैसी श्रद्धा रखता है और वैसे ही आचरण करता है, दूसरों से भी वैसे ही आचरण करवाता है एव कराते हुए उत्सूत्र मूलक आचरण का मन वचन और काया से अनुमोदन करता है, वह व्यक्ति नियम से-निश्चय करके मिथ्यादृष्टि होता है। सुविहित-आगमानुसारी आचरण करने वाले साधु एव श्रावकों को उन उत्सूत्र आचरण वाले व्यक्ति का दूर से ही परिहार-त्याग कर

1—अत एव श्रीआशापल्या पूत्र सैद्धान्तिक चक्र चूडामणिभिर्वादो द्विपद (द्वीप) घटा विद्रावण केसरिभिनिरछद्म शुद्धक्रियाकारिभि श्रीजिनपतिसूरिभि श्रीप्रद्युम्नसूरिभि सहायतनानायतनवाद सुमर्षाने सकला याबायचक्रप्रत्यभ श्रीघनियुक्त्यादि सिद्धानुसारेण सविस्तारमायतन सस्थाप्यानायतनं निराचक्रे, अतो अनायतन परिहारे सवसाधुभि सम्यग्दृष्टि श्रावकैश्च यतितव्यम्। इति टीकाकार

अर्थात्

आशापल्ली में सैद्धान्तिकचूडामणि श्रीजिनपतिसूरीश्वरजी ने श्रीप्रद्युम्नसूरि जी के साथ आयतन अनायतन के सबध में श्रीघनियुक्त्यादि आगमों के अनुसार आयतन को स्थापित कर अनायतन का निराकरण किया था। यह इतिहास पट्टावली में भी मिलता है।

होना चाहिये। उन[1] उत्सूत्राचारियों के दर्शन करने-देखने से भी प्रायश्चित्त लगता है ॥११-१२॥

मूल—धम्मत्थमन्नतित्थे, न करे तवन्हाण-दाण-होमाई।
चियवदण निकाल, सक्कत्थएणवि सया काहं ॥१३॥

अर्थ—अन्य तीर्थों में धर्म के लिये तप-स्नान दान होम आदि न करे एवं सम्यक्त्व लिये बाद ऐसा अभिग्रह रखे कि—मैं हमेशा ही शक्रस्तव-नमुत्थुणं पाठ से त्रिकाल चैत्यवन्दन करूंगा ॥१३॥

मूल—सपुन्न चियवदण, दोवाराओ करेमि छमास।
अट्ठसय परमिट्ठीण, सायर तह गुणिस्यामि ॥१४॥

अर्थ—सम्यक्त्व स्वीकार के बाद छह महीने तक सपूर्ण चैत्यवदन करूंगा। एवं १०८ वार परमेष्ठिमंत्र श्रीनवकार[2] मन्त्र का जप करूंगा ॥१४॥

मूल—जावज्जीव चउवीम, उद्दिट्ठमि चउद्दमीसुं च।
पुंनिम वीयएगारसि, पंचमि दोक्रासणाइ तव ॥१५॥

१—उस्सूत्तभासगा जे ते दुक्करकारगावि सच्छदा।
ताण न दंसणं पि हु कप्पइ कप्पे जओ भणियं ॥१॥
कट्ठं करंति अप्पं दमंति दव्वं चयंति धम्मत्थी।
इक्कं न चयहिं उस्सुत्त विसलवं ने बुड्डंति ॥२॥
उस्सुत्तदेसणाए चरणं नासिति जिणवरिंदाणं।
वावन्नदसणा खलु न हु लब्भा तारिसा दट्ठुं ॥३॥
पयमक्खर पि इक्कं जो, न रोवइ सुत्त निद्दिट्ठ।
सेस रोवंतो वि मिच्छद्दिट्ठी जमालिव्व ॥४॥

(भावार्थ)

दुष्कर क्रिया करने वाले भी जो स्वेच्छाचारी उत्सूत्र भाषक हैं उनका दर्शन नहीं करना चाहिये। ऐसा कल्प में फरमाया है। आगमों की एक बात भी नहीं मानता हुआ जमाली के जैसे मिथ्यादृष्टि हो जाता है।

२—नवकारेण जहन्ना, दंडग थुइ जुयल मिमा नेया।
सपुन्ना उक्को सा विहि जुत्ता वंदणा होई ॥१॥

अर्थात्

सिद्धांत में पूर्वधरों ने तीन प्रकार से चैत्यवंदना बताई है। नमस्कार से जघन्य, दण्डक स्तुति आदि से मध्यम, और सम्पूर्ण विधि से युक्त उत्कृष्ट चैत्यवन्दना होती है। इस सम्बन्ध में विशेष विधि देववन्दन भाष्य आदि से जानना चाहिये॥

अर्थ—सम्यक्त्व प्राप्ति के बाद श्रावक को जीवन पर्यंत कम से कम चौवीस नवकार मंत्र जपने ही चाहिये। उद्दिष्ट-अमावस्या अष्टमी चतुर्दशी मे और पूर्णिमा द्वितीया एकादशी पंचमी की पर्व तिथियों में[1] तियासना आदि करना चाहिये ॥१५॥

मूल—पंचुंबरिचउविगई, हिम-विस-करगे य सव्वमट्टी य।
राइभोयणगं चिय, वहुबीयअणंतसंधाणं ॥१६॥
घोलवडा वाइंगण, अमुणियनामाणि पुप्फफलियाइं।
तुच्छफलं चलियरसं, वज्जह वज्जाणि बावीसं ॥१७॥

अर्थ—उदुंबर उंबरा के वड के प्लक्ष के गूलर के और पीपल के फल, ये पांच उदुम्बर संज्ञा से प्रसिद्ध हैं। इनको ८ चार महाविगइ मद्य-मांस शहद और मक्खन इनको ६ बरफ को १० अफीम संखिया आदि विष को ११ बपाद मे पडने वाले गड़ों को १२ सब प्रकार की मिट्टी को १३ रात्रीभोजन को १४ जिसमे बीज बहुत हैं असात्विक बहु बीज फलों को १५ जो जमीन के अंदर पैदा होते हैं—जो काट कर बोने पर उग जाते हैं—ऐसे[2] अनंत कायिक कंदि आलू आदि फलों को १६ संधाना-अथाणों को १७ गरम न किये हुए दही मट्ठे आदि में डाले हुए बड़े घोलवडों को १८ बैंगन को १९ जिन फलों को आप भी न जानता हो न दूसरा ही कोई जानता हो—ऐसे अज्ञात पुष्प फलों को २० पीलू-पीचू आदि तुच्छ फलो को २१ जिसका रस चलायमान हो गया है—ऐसी चलितरस वस्तु को २२ इन बावीस छोडने योग्य अभक्ष्य वस्तुओं का हे भव्यात्मा मुमुक्षुओं! अपने हित के लिये छोड दो ॥१६-१७॥

१—भयवं बीय पमुहासु पंचसु तिहिसु अणुट्ठाणं कयं किं फलं होइ? गोयमा बहुफलं हवइ जेओ णं जीवे पाएणं एयासु तिहिसु परभवाउयं बंधइ। तम्हा समणेण वा समणीए वा सावएण सावियाए वा विसेसओ धम्माणुट्ठाणं कायव्वं। महानिशीथ सूत्रे—

२—अनंतकाय बत्तीस प्रकार के होते हैं उनके नाम—

सव्वायकंदजाइ, सूरणकंदो य वज्जकंदो य।
अद्दहलिद्दा य तहा, अद्द तह अल्लकच्चूरो ॥१॥
सत्तावरी विराली, कुमारी तह थोहरी गिलोइ य।
ल्हसणवंस करिल्ला, गज्जर तह लोणओ लोढा ॥२॥
गिरिकन्निकिसलपत्ता, खरिंसुया थिग्गअल्लमुत्थाय।
तह लूणरुक्खछल्ली, खिल्लुडो अमयवल्ली य ॥३॥
मूला तह भूमिरुहा, विरुहा तह ढक्कवत्थुलो पढमो।
सूयरवल्लो य [illegible]लको कोमल-बिलिया ॥४॥

मूल—सगारहलि-मुग्ग मुहट्ठ-मास-कडुपमुक्खवियलाइ ।
सह गोरसेण न जिमेए य, राइत्तिय न करे ॥१८॥

अर्थ—सोगरफलिया[1] सांगरियें, मूंग, मोठ, उडद, कडुक धान्य विशेष आदि दो दल वाले अनाज—(कठोल धान्य वाल चवले, चणे, तुअर अरहर कुलथी, मसूर, मेथी आदि जिनकी दो फाड़े होती हैं ऐसे द्विदल धान्य) बिना गरम किये गोरस में दही छाछ-मट्ठे आदि में नहीं खाने चाहिये। न राइता ही बनाना चाहिये ॥१८॥

द्विदल के लक्षण को बताते हैं—

मूल—जम्मि य पिलिज्जते, मणयं पि न नेहनिग्गमो हुज्जा ।
दुन्नियदलाइ दीसंति, मिंथियगाईण जह लोए ॥१९॥

अर्थ—घट्टी में पीसने पर जिसमें से तेल का निर्गम नहीं होता, तेल नहीं निकलता है। एवं जिसमें दो दल प्रत्यक्ष दीखते हैं। जैसे कि लोक में मेथी आदि धान्यों में देखा जाता है। उनको द्विदल कहते हैं ॥१९॥

मूल—निसि न्हाण वज्जेमि, अच्छाणिएणवुणा दहाईसु ।
अदोलण च वज्जे, जीयाण जुज्झावणाई य ॥२०॥

अर्थ—सम्यक्त्व को ग्रहण करने वाला श्रावक प्रतिज्ञा करते वाकि मैं रात्री में स्नान नहीं करूंगा। अनछाने पानी से स्नान नहीं करूंगा। हौद, कूंए तलाव बावडियो में भी स्नान नहीं करूंगा। अर्थात दिन में जीवाकुल भूमि को छोड कर कपड़े से छने हुए परिमित पानी से श्रावक को स्नान करना चाहिये। हिंडोले की क्रीडा को भी नहीं करनी चाहिये स्व परोपघातक होने से। मुर्गे साढ आदि जीवो को परस्पर में लडाना नहीं चाहिये। ऐसा करने से उन अबोध जीवों का नाश होता है और उनके संरक्षकों में वैर वृद्धि होती है। अत ऐसे विघातक काम श्रावक को छोड देने देने चाहिये ॥२०॥

मूल—न वहेमि पाणिणो न य भण्णमि भास मुस न य मुसामि ।
परदव्व परजुवइ नामियमिह परिग्गह पि करे ॥२१॥

आलू तह पिन्डालू बत्तीस आणिऊण अणंताइ ।
एयाइ बुद्धिमणा वज्जेयव्वा पयत्तेण ॥५॥

[1] कइ लोग मूग मोठ आदि का तो कच्चे गोरस के साथ उपभोग नहीं करते परतु सागरियां, बांगलिये की फलियां आदि के लिये कच्चे दही छाछ का परहेज नहीं करते हैं। वे लोग मूंग-मोठ आदि को तो धान्य द्विदल मानते हैं और सांगरियां वांगलिये की फलियां आदि को काष्ठ द्विदल मानते हैं। किन्तु सिद्धात में द्विदल के संबन्ध में ऐसे भेद नहीं बताये हैं। अत विवेकियों को कच्चे दही छाछ में किसी भी द्विदल को नहीं खाना चाहिये।

अर्थ—सम्यक्त्व को स्वीकार करने पर श्रावक को बारह व्रत पालन करने चाहिये। सब प्रकार के नियमों में मूलभूत पांच अणुव्रत होते हैं। उनमें पहिला व्रत यह है कि-प्राणियों को – चलते फिरते आंखों से दीखते स्थूल जीवों को बिना कारण अपराधीको नहीं मारूंगा। दूसरा व्रत-मृषा भाषा जिसके बोलने से उत्तम लोगों में निंदा हो, एवं राजा से दंडित हो एवं दूसरों का घात होता हो—ऐसी असत्य वाणी नहीं बोलूँगा। तीसरा व्रत-बिना दिये हुए दूसरे के द्रव्य को नहीं लूँगा अर्थात् चोरी नहीं करूंगा। चौथा व्रत स्व स्त्री में संतोष रखते हुए पर स्त्री का संगमी नहीं करूंगा। पांचवां व्रत – जरूरत से ज्यादा अमित परिग्रह धन धान्य क्षेत्र आदि का संग्रह नहीं रखूँगा ॥२१॥

मूल—बहुसावज्ज वाणिज्जमवि, सया तिव्वलोहओ न करे।
बहुलोयगरहणिज्ज, विज्जाइकम्म पि वज्जेइ ॥२२॥

अर्थ—हमेशा तीव्र लोभ से अधिक पाप वाले व्यापार श्रावक को नहीं करने चाहिये। एवं बहु लोक गर्हणीय धोबी, चमार, नाई, आदि नीच जाति के काम भी नहीं करने चाहिये। अथवा-गर्भपातनादि बहु लोक गर्हणीय वैद्य डाक्टर आदि के का भी नहीं करना चाहिये ॥२२॥

मूल—रायनियोगाइगय, खरकम्मं परिहरामि जहसत्ति।
पवयणसाहम्मिण, करेमि वच्छल्लम विगप्प ॥२३॥

अर्थ—राजा आदि की नौकरी में रहते हुए भी कठोर कर्म को यथाशक्ति छोड़ना चाहिये। एवं जैन प्रवचन-शासन को समान रूप से मानने वाले साधर्मि बन्धुओं के प्रति तन मन धन से वात्सल्य अवि कल्प-भेदभाव के बिना करना चाहिये। इसके लिये भी श्रावक को अभिग्रह रखना चाहिये ॥२३॥

साधर्मिकों के साथ कैसे बरतना चाहिये यह बताते हैं—

मूल—तेहिं सम न विरोह करोमि न च धरणगादि कलह पि।
सीयतेसु न तेसिं सइ विरिए भोयण काह ॥२४॥

अर्थ—उन साधर्मी बन्धुओं के साथ कदापि विरोध नहीं करूंगा धरणा¹-हिमी लप्ती आदि लडाई झगडे भी उनके साथ नहीं करूंगा। साधर्मिक लोग तन-धन से या

१—श्रावक इन पांच अणुव्रतों की रक्षा के लिए ३ गुण व्रत, और ४ शिक्षा व्रत रखते हैं। श्रावक के बारह व्रत होते हैं। जिज्ञासु अन्यत्र से जानें।

किसी और प्रकार से दु खी हों उस हालत में शक्ति के रहते उनका दु ख[1] मिटाये विना भोजन भी नहीं करूंगा ॥२४॥

मूल—दम्माइ हीणतरगं, जिणभवणे न साडगं दाहामि ।
अणुचियं नट्टं गीयं च, रासयं आसणाई वि ॥२५॥
निट्ठीवणखिवणाई, सव्वं आसायणं न य करेमि ।
सजिण जिणमंडवं तं कारणसुयणं च मुच्चलयं ॥२६॥

अर्थ—द्रम्म[2] नामक द्रव्य से कमती मूल्य में आने वाला कपड़ा जिन मंदिर में नहीं दूंगा। अनुचित नृत्य गीत रास करने आदि का अनुचित आसनादि नहीं करूंगा। थूक खखार नाकका मैल फेंकना आदि सब प्रकार की आसातना[3] नहीं करूंगा। जहां जिनेश्वर देव की प्रतिमा विराजमान है ऐसे जिन मंडप में सोना भी निषिद्ध है। कारण विशेष होने पर सोना मोकला रखता हूँ। अर्थात् गाढ कारण होने पर सो सकूँगा ॥२५ २६॥

मूल—नाणाचरियाणमयतराणि, सुत्तुत्तजुत्तिरज्झाणि ।
सोऊण कुमत्थाणि य, मन्नामि य दुक्खजणगाणि॥२७॥

१—विहाय कल्हं चत्र सव्वहा परिवज्जइ ।
साहम्मिएहिं सद्धिं, तु जओ सुत्ते वियाहियं ॥१॥
जो किर पहरइ साहम्मियंमि कोवेण दंसणमणम्मि ।
आसायणं चो जो (सो) कुणइ, निक्किवो लोगबधूणं ॥२॥
आणाय बहुतं जो वच दुहिओ मोह देवेण ।
तित्थयरस्स सेवगं य, संघस्स य पच्चणीओ सो ॥३॥
साधर्मिकुलके नवांग वृत्तिकार श्री अभयदेव सूरी ।
सो अत्थीय घ सामत्थं, त विन्नाण मणुत्तमं ।
साहम्मियाणा कज्जमि, ज वट्टन्ति सुसावया ॥१॥

२—द्रम्माद् भीमप्रिय विमलप्रिय-नामकान् इति टीकाकार ।

३—खेल केलि कालि कला कुल्लय तंबोल सुग्गालय
गाली कगुलिया सरीरधुवण केसे नहे लेहियं ।
भत्तोस तय पित्त वंत दसणे विस्सामणं दामणं
दंत त्थि नह गंड नासिय सिरो सुत्त छवीणं मम्म् ॥१॥
मंत मीलण लेलय विभजन भण्डार दुट्ठासणं
छाणी कप्पड दालि पप्पड वडी विस्सारणं नासणं ।
अक्कंद विकहं सरत्थघडणं तेरिच्छ संठावणं,
अग्गीसेवणं रंधणं परिक्खण निस्सीहियाभंजणं ॥२॥

अर्थ—अनेक आचार्यों के सूत्रोक्त युक्तियों से बाह्य आगम युक्ति विकल जुदे २ १ मतान्तरों को एव कुशास्त्रों को सुन कर निश्चित रूप से मानूंगा किये भवान्तरों में दु ख देने वाले हैं। ऐसा मान कर उनमे श्रद्धा नहीं करनी चाहिये ॥२७॥

(शार्दूल विक्रीडित वृत्तम्)

मूल—सव्वन्नूण-मयं मएण रहिओ सम्म सया साहए,
भव्वाणं पुरओ पवाहविरओ निच्छम्म निम्मच्छरो ।
सो मे धम्मगुरु सया गुणिगुरू कल्याणकारी वरो,
लग्गो जो जिनदत्त सोहणपहे नीसेससुक्खावहे॥२८॥

अर्थ—जो सर्वज्ञ वीतराग भगवान तीर्थंकर देव के मत को मद रहित होते हुए सदा भली भांति साधते हैं। जो भव्यात्माओं के सामने लोकप्रवाह से अलग रहते हुए धर्मोपदेश सुनाते हैं। जो कपट रहित और मात्सर्य भाव से मुक्त हैं। जो गुणियों के गुरु हैं कल्याणकारी हैं एव जो ज्ञान दर्शन चारित्र मे प्रधान हैं और समस्त सुख को वहन करने वाले जिनदत्त श्रीजिनेश्वर भगवान द्वारा दिये हुए—उपदेश द्वारा दिखाये हुए शोभन पवित्र मार्ग में प्रवृत्तिशील हैं वे ही महात्मा मेरे हमेशा के धर्म गुरु हैं। ऐसी पवित्र भावना सम्यक्त्वधारी श्रावक को रखनी चाहिये। इस श्लोक मे प्रकारान्तर से कर्त्ता अपना (जिनदत्त सूरि) ऐसा नाम भी सूचित कर दिया है।

छत्ती वाणह सत्थ चामर मणोणेगत्त मं भगण
सच्चित्ताणमवाय चायमजिए दिट्ठीअ नो अंजली ।
साडे गुत्तर सग भग मउड मोलि सिहरोसेहर,
हुड्डा गिंडुहगडियाइरमण जोहार चउक्किय ॥ ३ ॥ (६५)
रेकारं धरण रण विवरण वालाण पल्हत्थिय,
पाऊ पायपसारण पुडपुडी पक रइ मेहुण।
जूया जेमण गुज्झ विज्ज वणिज्जं सिज्जं जलुमज्जण
ए माइ य सवज्ज कज्ज मुजओ वज्जे जिणिंदालये ४ ॥ (८४)

१—देवगृहवास, देव द्रव्य भक्षण, यतिदेव पूजा, श्रावक मुखवस्त्रिका, स्थापनाचाय प्रतिक्रमण, देवाग्रबलिप्रदानाग्रिक मांगलिक्यादि प्रतिषेधन, प्रासुक शीतल जल्दानगलनक ग्रहण निवारण, जात सूतक-मृतक सूतक रजक तक्षु वायादि नीच जाति सक्त वस्त्र पात्र भक्त पानक खादिम स्वादिम रूप चतुर्विधाहार-ग्रहण, पर्व तिथि कल्याणिक तिथि वर्जित तिथि पौषध ग्रहण रूपवाणि ॥

॥ इति ... -कुलकम् समाप्त ॥

पटमगुणट्ठाणे जे जीवा, चिट्ठ ति तेसिं सो पढमो ।

होइ इह दव्वधम्मो, अविसुद्धो वीयनामेण ॥१०॥

अर्थ—पहिले मिथ्यात्वगुणस्थानकमें जो जीव रहते हैं, और वे जो अनुष्ठान-क्रिया करते हैं, उनको यह पहिला द्रव्यधर्म अविशुद्ध इस दूसरे नाम वाला होता है। अर्थात् मिथ्यात्वीयों का आचरण अविशुद्ध नामका द्रव्य धर्म है।

अविरयगुणट्ठाणईसु, जेय ठिया तेसिं भावओ बीओ ।

तेण जुआ ते जीया, हुंति सबीआ अओ सुद्धो ॥११॥

पढमंमि आउबंधो, दुक्करकिरियाओ होइ देवेसु ।

तत्तो बहुदुक्खपरंपराओ, नरतिरियजाईसु ॥१२॥

अर्थ—अविरतसम्यग्दृष्टिगुणस्थान आदिमें जो रहे हुए हैं उनका शुभ अनुष्ठान धर्म दूसरा भाव धर्म है। उससे सपन्न जो जीव होते हैं वे बोधिबीज करके सहित होते हैं अत यह दूसरा शुद्ध भावधर्म है। अर्थात् पहिला साधुओंका शुद्ध भावधर्म दूसरा गृहस्थों का शुद्ध भाव धर्म।

अर्थ—पहिले द्रव्यधर्मके के अधिकारी दुष्कर-कठोर क्रिया का आचरण करके देव सबधी आयुष्य का बध करके देवता में पैदा होते हैं। बाद में विषयभोगकी तल्लीनता के कारण नर तिर्य च आदि दुर्गतियों में बहुत दु ख परंपराओं को भोगते हैं—ऐसे जीवोंके लिये ही कहा जाता है "राजेसरी नरकेसरी"।

मूल—बीएविमाणवज्जो आउयबंधो न विज्जाए पाय ।

सुखित्तकुले नरजम्म, सिवगमो होइ अचिरेण ॥ १३॥

अर्थ—दूसरे भावधर्म के अधिकारी के वैमानिक देवों के सिवाय नीच जाती के देवता तक का आयुष्य प्राय करके नहीं बध होता। भाव धर्माधिकारी जीव वैमानिक देव होकर सुक्षेत्र और सुकुल में मनुष्यजन्म प्राप्त करे सत्वर मोक्षगामी होता है।

मूल—पाणिवहाई पावट्ठाणाणट्ठारसेव ज हु ति ।

होइ अहम्मो य तेसु पवट्टमाणस्स जीवस्स ॥१४॥

अर्थ—प्राणीवध हिंसा आदि पापके अठारह स्थानक जिसके करने से होते हैं। उन कामों में प्रवृत्ति मान जीवको अधर्म होता है।

मूल—तत्तो निरियनरयगई, अट्ट रुद्द च दुन्निज्झाणाइ ।

सग्गापवग्गा-सुहसगमो कह तस्स सुमिणे वि ॥१५॥

अर्थ—उन पापस्थानों के सेवनसे हुए अधर्म से तिर्यंच गति और नरक गति होती है। उनमे भी आर्तध्यान और रौद्रध्यान ये दोनों दुर्ध्यान बने रहते हैं। इस हालत मे उस अधर्म का आचरण करने वाले को स्वप्न में भी स्वर्ग और मोक्षसुखका सगम कैसे प्राप्त कर सकता है ? अर्थात् नहीं हो सकता।

मूल—तम्हा कयसुकयाणं सुगुरुण दसण फुड होइ।
कत्तो निप्पुण्णाण गिहम्मि कप्पद्दुमुप्पत्ति ॥१६॥

अर्थ—इसलिये किया है सुकृत-पुण्य जिनने ऐसे पुण्यवतों को श्रीसद्गुरु महाराज के दर्शन प्रत्यक्ष में प्राप्त होते हैं। यह भी ठीक ही है कि निष्पुण्य-भाग्यहीन आदमी के घर कल्पद्रुम की उत्पत्ति कहा से हो।

मूल—भवा वि केइ नियकम्मपयडिपडिकुलयाइ सभूया।
जत्थ सुसाहुविहारो संभइ न सिद्धिसुक्खकरो ॥१७॥

अर्थ—कितनेक भव्यात्मा भी अपने कर्मों की प्रकृतियों की प्रतिकूलता से वहां पैदा होते हैं, जहा सिद्धिसुख को करनेवाला सुसाधुओं का विहार (असयम क्षेत्र की प्रधानता के कारण) नहीं होता।

मूल—पयईए ऽ वि हु तेसि, सद्धम्मपसाहणुज्जयमणाण।
सुगुरुणं अदंसणओ, सदेहसयाणि जायति ॥१८॥

अर्थ—स्वभाव से ही सधर्म की साधना में उत्कण्ठित होनेवाले उन भव्यात्माओं के दिलमें श्रीसद्गुरु महाराज के अदर्शन (ससर्ग) से सैकडों सदेह पैदा होते हैं।

मूल—ते सन्देहा सव्वे गुरुणो विहरति जत्थ गीयत्था।
गतु पुछव्वा तत्थ इहरहा होय मिच्छत्त ॥१९॥

अर्थ—उन सभी सदेहों को जहाँ श्रीसद्गुरु महाराज विचरते हैं वहां जाकर पूछ लेने चाहिये। अन्यथा अतत्त्वश्रद्धानरूप मिथ्यात्त्व की प्राप्ति होती है।

मूल—ससइयमिह चउत्थ, निस्सन्देहाण होय सम्मत्त।
जुगपवरागमगुरु, लिहिय वयणदसणसुईहिंतो ॥२०॥

अर्थ—सन्देहोंके निवारण न होने पर सांसायिक नामका चौथा मिथ्यात्त्व होता है। इसी प्रकार जिनके सदेह मिट जाते हैं उन निस्सन्देह भाव वालों को निर्मल सम्यक्त्व पैदा होता है। युगप्रधानबोधवाले गुरुमहाराजाओं के लिखे हुए वचनों को सिद्धान्तोंकी वक दृष्टि से देखने एव सुनने से सन्देह नष्ट होते हैं।

मूल----कीरइ न वेत्ति ज, दव्वलिंगणो वदण इम पुट्ठ ।
तत्थेय पच्चुत्तर लिहिय आवस्सयाईसु ॥३१॥

अर्थ द्रव्यलिंगि शिथिलाचारियों को वन्दन करना चाहिये या नहीं ? इस प्रकार जो प्रश्न किया गया है उसके प्रति आवश्यकआदि सूत्रों में यह उत्तर लिखा हुआ है ।

मूल—पासत्थाई वदमाणस्स, नेव कीत्ति न निज्जरा होइ ।
कायकिलेस एमेव, कुणइ तह कम्मवध च ॥३२॥

अर्थ—पासत्थ आदि शिथिलाचारियों को वन्दन करते हुए श्रद्धालु व्यक्ति की न कीर्ति होती है, और न निर्जरा ही होती है । केवल कायक्लेश और कर्म बन्ध ही वह करता है ।

मूल—जो पुण कारणजाए, जाए वायाइओ नमोक्कारो ।
कीरइ सो माहूण, सड्ढाण सो पुण निसिद्धो ॥३३॥

अर्थ—कारणों के उत्पन्न होने पर पासत्थे आदिओं को साधु ही वाचिक नमस्कार करें। श्रावकों के लिये तो वाचिक नमस्कार भी निषिद्ध है। अर्थात् उनको श्रावक वचन से भी नमस्कार न करें। क्यों कि श्रावक आगमगत विशिष्ट विचारों से अनभिज्ञ होते हैं।

मूल—पोसहियसावयाण, पोसहसालाइ सावगा वहुगा ।
गतु पगरणजाय, किंपि वियारिंति त जुत्त ॥३४॥

अर्थ - पौषध ग्रहण करनेवाले श्रावकों की पौषधशाला म बहुत से श्रावक जाकर उपदेशमाला जीवविचार आदि किसी अनिर्दिष्ट प्रकरण विशेषको विचारते हैं। वह क्या ठीक है ?

मूल—केणइ गीयत्थगुरु, आराहतेण पगरण किंचि ।
सुट्ठु सुय नाय चिय, तस्सत्थ कहइ सेसाण ॥३५॥

अर्थ—सुविहित गीतार्थ गुरु महाराज की आराधना करने वाले किसी श्रावक ने यदि कोई प्रकरण भलीभाति सुना हो एव जाना हो तो उसके अर्थको बाकी के श्रावकों को ~~कहना है~~ कहना चाहिये ।

मूल—त च कहत अन्नो, जइ पुच्छइ कोवि अक्खरमवि किंचि ।
जइ मुणइ त पि सो कहइ, तस्स अह नो ...

अर्थ—उस प्रकरणार्थ को कहते हुए यदि दूसरा कोई भी सम्यक्त्वी या मिथ्यात्वी मनुष्य प्रकरण संबधी या ओर भी कुछ पूछता है उस बातको प्रकरण व्याख्याता श्रावक यदि जानता है, तो वह कह सकता है। अगर नहीं जानता है, तो न कहे, साथ ही यह बात कहे—।

मूल—एय खलु गीयत्थे, गुरुणो पुच्छिय तओ कहिरसामि।
इय जुत्तीए सड्ढो, भवभीरू कहइ सड्ढाण ॥२७॥

अर्थ—श्री गीतार्थ गुरुओंको पूछकर बाद में इस तुम्हारे प्रश्न का जवाब दूंगा। इस युक्ति से भवभीरु श्रावक दूसरे श्रावकों को कहे। अर्थात् मन घडत जवाब न देकर सद्गुरु का आश्रय ले।

× × ×

पौषध प्रश्न—सभी दिनों मे पौषध ग्रहण करना चाहिये या प्रति नियत दिनो मे ही? क्यो कि कई लोग कहते हैं—कि-सामग्री के सद्भाव में सदा ही श्रावक को पौषध लेना चाहिये। प्रति नियतदिन के भरोसे प्राप्त समय सामग्री को निष्फल नहीं जाने देना नहीं चाहिये। ज्ञाता सूत्र में नन्दमणिकार सेठ ने तीन दिन का पौषध किया था। यह नहीं हो सकता कि वे तीनो दिन प्रति नियत पर्वदिन ही थे।

इसीके प्रतिवाद मे दूसरे लोग कहते हैं—कि हमेशा पौषध नहीं लेना चाहिये। विशिष्ट कालमें आचरणीय होने से पौषध ग्यारहवां व्रत एव चौथी प्रतिमा होने से विशिष्ट काल मे ही अनुष्ठान के योग्य है। क्यो कि पूर्वाचार्यों ने व्रत को पर्वानुष्ठान रूपसे बताया है। उत्तराध्यन सूत्रके नवमाध्यन की वृत्तिमें—पौषधो अष्टम्यादि ष्ठु व्रत विशेष—आवश्यक चूर्णिमे—सभी काल पर्वो मे तपोयोग बताया है एव अष्टमी पूर्णिमा आदि में नियम से पौषध लेना चाहिये ऐसा बताया है। होइ चउत्थी पचद्दसी अट्ठमी माईसु दिवसेसु पोसह। जो जो सदनुष्ठान होता है वह सदा आचरणीय ही होता है ऐसा नियम नहीं है, क्यो पाक्षिक आदि प्रतिक्रमणादि सदनुष्ठान सदा नहीं किये जाते। ज्ञाता सूत्रमें नन्दमणिकार सेठने तीन दीन पौषध लिया हो ऐसे सूत्राक्षर नहीं है। अट्ठमभत्त के तीन दिनो में जो अतका पूर्णिमा का दिन था उसमे पौषध लिया था। यह पर्व दिन ही होता है। तीन दिनकी प्रतिमा मे तीसरे दिन कार्योत्सर्ग होता है। वैसे इस प्रकार दो मतों के रहते जिज्ञासु प्रश्न करता है कि पौषध कब करना चाहिये? इसके जवाब में कहते हैं—

मूल—उद्दट्ठमि चउद्दसि पचदसमी उ पोसहदिणति।
एयासु पोसहवय सपुन्न कुणइ ज सड्ढो ॥३८॥

अर्थ—उद्दिष्टा—अष्टमी अमावस्या पूर्णिमा ये पौषध ग्रहण करने के दिन हैं इन तिथियों में श्रावक सम्पूर्ण चारों प्रकार के पौषधो को करता है। दशाश्रुत स्कध चूर्णि मे

इन जीवों का ही होता है। अर्थात् अग्निकाय के शरीर से दूर प्रभा प्रकाश नहीं ह... अतः इनके दृश्यमान प्रकाश को सचेतन माना जाता है और इसीलिये अग्निकाय के स्पर्श होने पर विराधना सम्भवित है। अतः आलोचना करनी चाहिये'।

प्रश्न—आलोचना करते समय प्रायश्चित रूपसे श्रीगुरुमहाराज यदि सज्झाय इत्य... बतावें तो वह सज्झाय हमेशा के नियम से होती है वह मानी जायगी? या उससे अधिक सज्झाय स्वाध्याय पूर्व पठित अपठित पाठ-आगम प्रकरण आदि पढ़ना चाहिये?

मूल—पइदिवस सज्झाए, अभिग्ग हो जस्स सयमहस्साई।
सो कम्मक्खयहेऊ, अहिगो आलोयणाए भत्रे ॥४३॥

अर्थ—प्रतिदिन दो—हजार या अधिक श्लोकों के स्वाध्याय को करने का जिसके अभिग्रह है, वह—कर्म क्षयका कारण ही है। परन्तु आलोचना में प्रायश्चित्त रूप से जो स्वाध्याय करता हो, वह सदा से अधिक होना चाहिये।

प्रश्न—पांच तिथियों में यदि एकासना आदि तपका नियम है। और वह तप होता भी है। परन्तु आलोचना के कराने पर यदि उस अभिगृहीत तप से कोई बड़ा तप करे जैसे एकासने का अभिग्रह है और आलोचना का तप करता है अगर आयंबिल या उपवास कर लिया जाय तो वह तिथि के अभिगृहीत तपमें गिना जायगा या आलोचना में?

मूल—एगासणाइ पचसु तिहीसु जस्सत्थि सो तवं गहयं।
कुणइ इह निब्वियाई, पविसइ आलोयणाइ तवे ॥४४॥

अर्थ—द्वितीया-पंचमी अष्टमी एकादशी चतुर्दशी इन पांच तिथियों में एकास... आदि तप करने के जिसके नियम है। वह व्यक्ति अगर अपने अभिगृहीत तपसे अधि... तप नीवी आदि करता है तो वह तप आलोचना तपमें प्रविष्ट होता है। क्योंकि मा... सिक परिणामों की प्रधानता मानी जाती है।

इस सम्बन्धमें अति प्रसंग को रोकने के लिये बताते हैं—

मूल—जइ त तिहिभणियतव अन्नत्थदिणे करिज्ज विहिसज्जो...
अइ ण कुणइ जो सो गुरुत्वो वि ज तिहि तपे पडइ ॥...

अर्थ—यदि सुविहित विधिपालन में तत्पर महानुभाव उस तिथि निर्दिष्ट तप... दूसरे दिन करले, तो ऊपर वाली बात (कि गुरु तप आलोचना मे जाता है—) होती...

१—इस प्रकार का ...

अगर दूसरे दिन तिथितप को नहीं करता है तो वह बडा तप भी आलोचना में न जाकर तिथि तप रूप से ही माना जायगा।

प्रश्न—आवश्यक चूर्णि मे बताया है कि "सामायिक करता हुआ श्रावक मुकुटका त्यागकरे कुण्डलों को नाम मुद्रा को तबोल को प्रावारक—वस्त्र आदि का त्याग करे"—सो सामायिक पौषध को ग्रहण करता हुआ गृहस्थ निष्प्रावरण रहे या कभी कुछ कपडा ग्रहण भी करे ? अगर ग्रहण भी करे तो कितने प्रावरणों को ग्रहण करे ?

मूल—उस्सग्गनयेणं सावगस्स परिहाणसाडगादवरं ।
कप्पइ पाउरणाइं न सेसमववायओ तिण्णि ॥४६॥

अर्थ—उत्सर्ग मार्ग से श्रावक को पहिनने की धोती से भिन्न अधिक कपडा नहीं कल्पता है। परन्तु अपवाद मार्ग से तीन कपड़े ओढने के लिये ले सकता है। क्योंकि सामायिक में श्रावक साधु के समान होता है।

मूल—एव कयसामाइया वि साविगा पढमनयमएणेह ।
कडिसाडग कंचुयमुत्तरिज्ज वत्थाणि धारेइ ॥४७॥

अर्थ—इसी तरह सामायिक करनेवाली श्राविका भी उत्सर्ग मार्ग से कटिशाटक-लहँगा कचुकी और साडी ये तीन वस्त्र धारण कर सकती है।

मूल—बीयपएणं तिण्हुवरि तिहिं उ वत्थेहिं पाउअंगी उ ।
सामाइयवयं पालइ तिपय परिहरइ पडिक्कमणे ॥४८॥

अर्थ—दूसरे अपवाद मार्ग से लहँगा—कचुकी और साडी इन तीन वस्त्रों के ऊपर शीततापनिवारणार्थ ओढने के तीन अधिक वस्त्रो से ढके हुए अगवाली सामायिक व्रत को श्राविका पालती है। परन्तु प्रतिक्रमण के समय त्रिपद—अपवाद सेवा को छोड देती है।

मूल—जइ कचुगाइ रहिया, गिण्हइ सामाइयं च सुमरिज्जा ।
तो पच्छा अगट्ठं करेइ गरहेइ पुव्वकय ॥४९॥

अर्थ—यदि श्राविका कचुकी से रहित भूल से सामायिक ग्रहण कर लेती है, और बादमें याद आता है, तो पीछे से भी अग ढक लेना चाहिये। उस अवस्था में की हुई क्रिया अविधि मानी जाती है इसलिये उस पूर्वकृत अविधि की गर्हा निंदा करे।

मूल—एलामुत्थाइगय भिन्न भिन्नं जल भवे दव्व ।
वण्णरसभेयओ जं, दव्वविभेओ वि समयमओ ॥५०॥

अर्थ—एक ही भाजन से लिया हुआ परन्तु इलायची मुक्ता आदि जुदे २ द्रव्यों से वासित किया हुआ पानी जुदा जुदा द्रव्य होता है। क्योंकि वर्ण रस गंधादि भेद से द्रव्य भेद होना सिद्धान्त समत है।

प्रश्न—जुदे २ भाजनों में जुदे २ द्रव्यो द्वारा वासित एक ही स्थान का पानी जुदे २ द्रव्य रूप में माना गया यह ठीक परन्तु पौषध करने वाले श्रावक या श्राविका वैसा पानी अपने २ घर से लाकर पौषध शाला में एक ही घड़े में डाल दें बाद में यह पानी एकद्रव्य रहेगा या अनेक द्रव्य ?

मूल—जइ पोसहसालाए सड्ढासड्ढी वि पोसहम्मि ठिया।
एगत्थ खिवंति भने, तमेग दव्व न संदेहो ॥५१॥

अर्थ—यदि पौषध शाला में श्रावक लोग या श्राविकायें पौषध में रहे हुए अपने २ घर से लाये हुए पानी को यदि किसी एक पात्र में डाल देते हैं तो वह सारा पानी एक द्रव्य हो जाता है इसमें कोई सन्देह नहीं है।

प्रश्न—जिसने चार कोश तक जाने की अपने नियम में छूट रखी है, परन्तु वह एक कोश भी नहीं जाता, तो उसको कर्म बंध होता है या नहीं। क्यों कि सुना जाता है कि—कृतया एव क्रिया कर्म बंध, न अकृतया—अर्थात् की हुई क्रिया से ही कर्म बंध होता बिना किये नहीं होता। तो ठीक क्या समझना ?

मूल—जेण दिसापरिमाणं कोसचउक्कं दुगं च कयमित्थ।
कोसद्धं पि न गच्छइ तह वि हु बंधो त्ति विरइआ ॥५२॥

अर्थ—जिसने दिशा परिमाण व्रतमें चार कोश या दो कोश का क्षेत्र जाने आने को खुला रखा है और वह व्यक्ति कभी आधा कोश भी नहीं जाता है। तो भी उसके अविरति से पैदा होने वाला कर्म बंध होता ही है। क्रिया से कर्म बंध का उतना तालुक नहीं जितना कि परिणामों से। कर्म बंध में मिथ्यात्व अविरति कषाय और योग ये चार हेतु होते हैं।

प्रश्न—मथा हुआ दही विगय है या उत्कृष्ट द्रव्य ? अगर विगय है तो वैसे भी उत्कृष्ट द्रव्य होता है, या नहीं ? अगर होता है, तो निर्विगय के पच्चक्खाण में कल्पता है, या नहीं ?

मूल—जह गालियं च दहियं, तहावि विगई जलं न जं पडइ।
पडिए वि जले त तिव्वियमि, विहिए न कप्पइ य ॥५३॥

दही वस्त्रसे गाला गया हो और मथा गया हो तो भी विगय ही है,

जब तक कि उसमें जल नहीं पडता है। जल के गिरने पर भी निविगय का पच्चखाण करने पर वह घोल नहीं कल्पता है।

मूल—जइ मडियाइ जोगो पायकओ कोवि होइ गुडचुण्णो।
उव्वग्ड सो वि नियमा गुडविगई होइ अनुवहत ॥५४॥

अर्थ—यदि मडिका—पक्वान विशेष सेवैया लड्डु, कसार आदि खाद्य पदार्थो की लिये गुड सम्बन्धी कोई पात (चासनी) होती है वह नियम से गुड विगई ही अनुपहत भावसे बनी रहती है। जैसा कि 'प्रवचन सारोद्धार' में कहा है—

अह हविहेस्खुरसो गुडपाणीय च सक्करा खड
पायगुल गुलविगइ विगइगयाइ तु पचेवन्ति ॥

जब वह पन मडिकादि खाद्य द्रव्यों से मवधित की जाती है। अथवा सूंठ आदि से मिलाई जाती है। तब वह गुड विहनि नहीं रहती।

प्रश्न—पहले कहा गया है कि वर्ण, रस भेद से एक द्रव्य के भी कई भेद बन जाते हैं तो नाना जाति के रूप से अनेक देशोत्पन्न रूपसे नया पुराना आदि भेद से जुदे जुदे वर्ण रसवाले सुपारी आदि द्रव्यों मे अनेक द्रव्यता का प्रसग उपस्थित होगा और इसका प्रकार उपभाग व्रत मे द्रव्य सख्या का अतिक्रम क्या नहीं होता? ऐसे द्रव्योको सदा ही एक दिन म कई बार भोगे जाते है। विवाहादि उत्सवों मे तो कहना ही क्या?

मूल—सव्वाइ पुप्फलाइ नाणाविहजाइरसविभिन्नाइं।
पुप्फलमेग दव्व उवभोगवयम्मि विन्नेय ॥५५॥

अर्थ—उपभोग द्रव्य परिमाण व्रत मे नाना प्रकार की जाती, रस विभिन्न पुप्फ आदि सुपारा आदि सभी द्रव्य अपनी अपनी जाती मे सुपारी आदि एक द्रव्य रूपसे जानना चाहिये।

प्रश्न—अनेक जाति रस वाले पुगीफल सुपारियों को ही एक द्रव्य से मानना चाहिये या दूसरे द्रव्योंको भी?—

मूल—एवं जलकणयतिल्ललोण विभिन्नाइ विविहजाइगय।
एगं दव्व पग्गिह पमाणवयगहियगणणाए ॥५६॥

अर्थ—इसप्रकार सुपारी के जैसे नानाप्रकार का जात, धन्य-वण, घी तैल नमक आदि अनेक देशोत्पन्न असमान वण रस वाले जुदे जुदे होने पर भी परिग्रह परिमाण व्रत की गिनती में अनेक रूप जात्याश्रित एक द्रव्य रूप से मानना चाहिये। जैसे आकाशका भूमिका नदीका जल भिन्न भिन्न होने पर

अर्थ—एक ही भाजन से लिया हुआ परन्तु इलायची-मुस्ता आदि जुदे २ द्रव्या से वासित किया हुआ पानी जुदा जुदा द्रव्य होता है। क्योंकि वर्ण रस गधादि भेद से द्रव्य भेद होना सिद्धान्त समत है।

प्रश्न—जुदे २ भाजनों में जुदे २ द्रव्यो द्वारा वासित एक ही स्थान का पानी जुदे २ द्रव्य रूप मे माना गया यह ठीक परन्तु पौषध करने वाले श्रावक या श्राविका वैसा पानी अपने २ घर से लाकर पौषध शाला मे एक ही घड़े मे डाल दे बाद में वह पानी एकद्रव्य रहेगा या अनेक द्रव्य ?

मूल——जइ पोसहसालाए सड्ढासड्ढी वि पोसहम्मि ठिया।
एगत्थ खिवति भने, तमेग दव्व न सदेहो ॥५१॥

अर्थ—यदि पौषध शालामें श्रावक लोग या श्राविकाएँ पौषध मे रहे हुए अपने २ घर से लाये हुए पानी को यदि किसी एक पात्र में डाल देवे हैं तो वह सारा पानी एक द्रव्य हो जाता है इसमें कोई सन्देह नही है।

प्रश्न—जिसने चार कोश तक जाने की अपने नियम मे छूट रखी है, परन्तु वह एक कोश भी नहीं जाता, तो उसको कर्म बध होता है या नहीं। क्यो कि सुना जाता है कि—कृतया एव क्रिया कर्म बध, न अकृतया—अर्थात् की हुई क्रिया से ही कर्म बध होता बिना किये नहीं होता। तो ठीक क्या समझना ?

मूल——जेण दिसापरिमाण कोसचउक्क दुग च कयमित्थ।
कोसद्ध पि न गच्छइ तह विहु बधो तय विरइओ ॥५२॥

अर्थ—जिसने दिशा परिमाण व्रतमें चार कोश या दो कोश का क्षेत्र जाने आने को खुला रखा है और वह व्यक्ति कभी आधा कोश भी नही जाता है। तो भी उसके अविरति से पैदा होने वाला कर्म बध होता ही है। क्रिया से कर्म बध का उतना तालुक नहीं जितना कि परिणामो से। कर्म बध में मिथ्यात्व अविरति कषाय और योग ये चार हेतु होते हैं।

प्रश्न—मथा हुआ दही विगय है या उत्कट द्रव्य ? अगर विगय है तो कैसे भी उत्कट द्रव्य होता है, या नही ? अगर होता है, तो निविगय के पचक्खाण में कल्पना है, या नहीं ?

मूल——जइ गालिय च दहिय, तहावि दि-
पडिए वि जले त तिव्वियमि

अर्थ—यदि दहि वस्त्रसे गाला गया हो

जब तक कि उसमे जल नहीं पड़ता है। जल के गिरने पर भी निविगय का पच्चखाण करने पर वह घोल नहीं कल्पता है।

मूल—जइ मडियाइ जोगो पायकओ कोवि होइ गुडचुण्णो।
उवग्गइ सो वि नियमा गुडविगई होइ अनुवहत ॥५४॥

अर्थ—यदि मडिका—पक्वान विशेष सेवैया लड्डु, कसार आदि खाद्य पदार्थो की लिये गुड सम्बन्धी कोई पात (चासनी) होती है वह नियम से गुड विगई ही अनुपहत भावसे बनी रहती है। जैसा कि 'प्रवचन सारोद्धार' मे कहा है—

अद्द कड्डितेनरसुमो गुलपाणीय च सक्करा खड
पायगुलं गुलविगई विगन्गयाइ तु पचेवन्ति ॥

जब वह पात मडिकादि खाद्य द्रव्यों से सचित की जाती है। अथवा सूंठ आदि से मिलाई जाती है। तब वह गुड विकृति नहीं रहती।

प्रश्न—पहले कहा गया है कि वर्ण, रस भेद से एक द्रव्य के भी कई भेद बन जाते हैं तो नाना जाति के रूप से अनेक देशोत्पन्न रूपसे नया पुराना आदि भेद से जुदे जुदे वर्ण रसवाले सुपारी आदि द्रव्यों मे अनेक द्रव्यता का प्रसग उपस्थित होगा और इसका प्रकार उपभोग व्रत में द्रव्य सख्या का अतिक्रम क्या नहीं होता? ऐसे द्रव्योंको सदा ही एक दिन मे कई वार भोगे जाते हैं। विवाहादि उत्सवों मे तो कहना ही क्या?

मूल—सव्वाइ पुप्फलाइ नाणाविह जाइरसविभिन्नाइ।
पुप्फलमेग दव्व उवभोगवयम्मि विन्नेय ॥५५॥

अर्थ—उपभोग द्रव्य परिमाण व्रत में नाना प्रकार की जाती, रस विभिन्न पुप्फ-लादि-सुपारी आदि सभी द्रव्य अपनी अपनी जाती में सुपारी आदि एक द्रव्य रूपसे जानना चाहिये।

प्रश्न—अनेक जाति रस वाले पुगीफल सुपारियों को ही एक द्रव्य से मानना चाहिये या दूसरे द्रव्योंको भी?—

मूल—एव जलरणघयतिल्ललोण विभिन्नाइ विविहजाइगय।
एगं दव्व परिग्गह पमाणवयगहियगणणाए ॥५६॥

अर्थ—इसप्रकार सुपारी के जैसे नानाप्रकार का जात, धन्य वर्ण, घी तेल नमक आदि अनेक देशोत्पन्न असमान वर्ण रस वाले जुदे जुदे होने पर भी परिग्रह परिमाण गिनती में अनेक रूप आस्वादित एक द्रव्य रूप से मानना चाहिये। जैसे आकाशगा नदीका जल भिन्न भिन्न होने पर एक जल द्रव्य रूप से स्वकारना चाहिये।

प्रश्न—उपवास आदि के करने पर बालक आदि का मुखचुम्बन करते हुए प्रत्याख्यान भग होता है या नहीं ?

मूल—गब्भरूयप्पमुहाण वयण चुम्बइ कओपवासाई ।
तस्स उ पच्चक्खाणे भगो सभवइ जुत्तीए ॥५७॥

अर्थ—उपवास आदि व्रत करने वाला व्यक्ति बच्चे आदिकों के मुखको चुमता है, तो उसके प्रत्याख्यान में युक्ति से भगका सम्भव है ।

मूल—दहितरमज्झखित्तो गोहुम चुण्णोय पक्कविगई उ ।
मिढो लग्गइ नियमा तह वीसदणओ विगई ॥५८॥

अर्थ—गेहूं का आटा घी से मानितकिया हुआ दही की थर से साल कर बड़ों के रूप में घी की कडाही में पकाया हुआ भोजन विशेष नियम से पक्वान्न विषय में गणना चाहिए—विस्यन्दन को भी विगय ही समझना चाहिये ।

प्रश्न—समायिक धारी बिजली व दीपक के प्रकाशसे जब स्पृष्ट होता है और जब स्त्री से या तिर्यंचणी से सघट्टित होता है तब बिजली के स्पर्श से दीप का स्पर्श और औरत के स्पर्श से तिर्यंचणी का स्पर्श भिन्न है या अभिन्न ?

मूल—विज्जुयपईवेण फुसिओ त फुसणय तओ हुज्जा ।
भिन्न भिन्न नारीमजारीण च सघटण ॥५९॥

अर्थ—विजली का प्रकाश और दीपक का प्रकाश सामायिकधारी के शरीर पर पड़ने से तेउकाय का स्पर्शन होता है। फिर भी दोनों का प्रायश्चित्त भिन्न २ है। इसी प्रकार स्त्री और बिल्ली के छूने से स्त्री स्पर्शन होता है। पर दोनों में बड़ा अन्तर है।

प्रश्न—जलमें भिजाने मात्र से धान्यको विरूढक कहते हैं या जिसमें भिग जाने के बाद अङ्कुर फूट निकलते हैं उसको विरूढक कहते हैं।

मूल—पयड कुर तु धन्न जलभिन्न त तु भण्णइ विरूढ ।
सेस जलभिन्न पि हु चणगाइ विरूढमवि न भवे ॥६०॥

अर्थ—जलमें भिजाये हुए जिस धान्य में अकुर प्रकट हो चुके हैं उसको विरूढ कहते हैं। बाकी का जलमें भिगोया हुआ चणा—आदि धान्य विरूढ भी नहीं होता।

प्रश्न—भुञ्जे हुए विरूढक भिगोए हुए सांकुर धान्य सचित्त होते हैं या अचित्त । यदि अचित्त हैं तो भी विरूढक व्रती उसको खा सकता है, या नहीं ?

मूल—भुग्गानि विरुद्धाणिय हु ति अचिताणि तह विरुद्धनियमो ।
ताणि न फुक्खइ तह फुट्टक्ककडी असइ न हु साहु ॥६१॥

अर्थ—भुजे हुए विरूद्धक धान्य अचित्त ही होते हैं फिर भी विरूद्धक धान्य तु खाने का व्रती उसको न खावे। सचित्त व्रती प्रवृत्ति दोषमय से न खावे।

प्रश्न—अति पकी ककडी फुट सचित्त नहीं कही जाती किन्तु बीजवाली होने से सचित्त प्रतिबद्ध होती है—उसमे से यदि बीज हटा दिये जायँ तो। सचित्त का त्यागी श्रावक उसे खावे या न खावे ?

उत्तर—अतिपकी ककडी—फुट फटी हुई होने से उसमे सर्प आदि के गरल—विष की सभावना हो सकती है इस लिये साधु भी न खाय तो श्रावकका तो कहना ही क्या।

प्रश्न—फटी हुई ककडी फुट तो कोई ही होती है। सबमे विषकी सभावना नहीं होती तो सभी का निषध क्यो किया जाता है ?

मूल—जइ वायगणपमुहं पि तीमण सया अचित्तमपि न जई ।
गिण्हइ पवित्ति दोसं सम्म परिहरिउ इच्छन्तो ॥६२॥

अर्थ—यद्यपि बैंगन आदि का बनाया हुआ साग अचित्त ही होता है फिर भी साधु प्रवृत्ति दोष को भली प्रकार से त्यागने की इच्छा से ग्रहण नहीं करता है। उसी तरह फुट-ककडी अचित्त होने पर भी सचित्त त्यागी श्रावक प्रवृत्ति निषेधार्थ ग्रहण नहीं करते।

प्रश्न—जिस नागरमोथ आदि द्रव्य से एक दिन मे जल को अचित्त किया उसी द्रव्य से दूसरे दिन भी यदि अचित्त किया जाय तो वह जल छठ अट्ठम आदिके पच्चक्खाण करने वाले श्रावक को पीना कल्पता है या नहीं ? चतुर्थभक्त—एक उपवास के जैसे छठ अट्ठम में भी एक ही द्रव्य मोकला रखा होने से।

मूल—जीए मुत्थाइकय अज्जेव जल तु फासुग तीए ।
कल्लेव कीरइ जइ तमेगदव्वं न संदेहो ॥६३॥

अर्थ—१ जिस मुस्ता नागर मोथ आदि वत्कट वर्ण गध रसान्तर गुणवाले द्रव्य से किया हुआ प्रासुक जल आजके उपवासी को कल्पता है। उसी मुस्ता आदि द्रव्यसे कल परसों भी यदि जल को प्रासुक किया जाय तो वह एक ही द्रव्य माना जाता है। इसमें कोई सन्देह नहीं। जुदे २ घडों मे भी एक द्रव्य से प्रासुक किया हुआ जल भी एक ही द्रव्य माना जाता है।

नोट १—इस श्लोक की टीका मे उकाले हुए पानी के जैसे ही [illegible] के प्रासुक किये [illegible] का उपयोग तर्क सगत एव आगम सगत लगाया है। [illegible] में प्रचार के [illegible] हुए [illegible] हा प्रत्याख्यान में पीना चाहिए एसे एकान्त पक्षका [illegible] गया है। [illegible] जितना प्रचार हुआ है उतनी ही साधु विहार में [illegible] पड़ है। [illegible] टीका को पढ़कर प्रासुक जल विधि का प्रचार [illegible] एक बड़े [illegible] है [illegible]

प्रश्न—समय पर मुख वस्त्रिका न पडिलेही गई हो तो उस से सामायिक ग्रहण करना कल्पता है या नहीं ?

मूल—अप्पडिलेहि य मुहणतगे य, सामाइय करिज्जा उ।
अविहिकए पच्छित्त, थोव तेण पडिक्कमइ ॥६४॥

अर्थ—अपडिलेही हुई मुहपत्ती से—उपलक्षण से आसन पौषधशाल आदि अप्रतिलिखित हों तो—भी सामायिक पौषध आदि किया जाता है। न करने से तो नियम भंग ही होता है, जो महा दोष का कारण है। अविधि से करने पर तो थोड़ा प्रायश्चित होता है, जो प्रतिक्रमण से निवृत्त हो सकता है।

प्रश्न—सामायिक ग्रहण करते हुए सामायिक सूत्र उच्चारण के बाद तेजस्काय का स्पर्श हो जाय तो सामायिक का भंग होता है या नहीं ?

मूल—सामायिक-सुत्तम्मि उच्चरिए कहवि होइ जइ फुसणं।
तो त आलोएज्जा, भंगो से नत्थि समाइए ॥६५॥

अर्थ—'करेमि भंते'—सामायिक सूत्र के उच्चारण करने पर किसी प्रकार से यदि अग्निकाय का स्पर्शन हो जाय तो उसके लिये इरियावही आलोयना करना करनी चाहिए। गुरुदत्त प्रायश्चित्त लेना चाहिए। ऐसा करने से उस स्पर्शन से सामायिक में भंग नहीं होता।

प्रश्न—पक्व अपक्व दो दलवाला अनाज गोरस से मिलने पर सं मूर्छिमजीव वाला हो जाता है, वैसे ही पक्व अपक्व गोरस के साथ दो दलवाला अनाज खाना कल्पता है या नहीं ?

मूल—उक्कालियम्मि तक्के, विदलक्खेवे वि नत्थि तद्दोसो।
अतत्तगोरसम्मि, पडिय ससप्पए विदल ॥६६॥

अर्थ—गरम किये हुए दही छाछ आदि गोरस में बेसन दाल आदि द्विदल अनाज के डालने से तज्जन्य आहार में जीव विराधना रूप दोष नहीं होता है। कच्चे गोरस में द्विदल अनाज के डालने से जीव समूर्च्छिम सूक्ष्म त्रस जीव पैदा होते हैं। जैसा कि—कल्पभाष्य में फरमाया है—"आम गोरसुम्मीस ससज्जए य अइरा वहत्ति हु नियमा हु दोसायत्ति"—अर्थात् कच्चे गोरस में द्विदल मिलाने से जल्दी समुर्च्छिम जीव पैदा होते हैं। उससे स्वास्थ्य और संयम की विराधना रूप दो दोष पैदा करते हैं।

प्रश्न—अनेक रसवाली अनेक वस्तुओं को कढ़ाई में तली जायँ तो वह विगय मान या उत्कट द्रव्य ?

मूल—गोहुमघयगुलदुद्धाणि मेलिउ तो कडाहगे पयइ ।
तं घणुहुज्जा पक्कन्नविगइ नियमा न दव्वं तं ॥६७॥

अर्थ—गेहू- घृत-गुड-दूध आदि को मिलाकर कडाही मे तला जाता है, जिसको कि नागोर के आस पास सोलस पट्टो मे "घणु हुज्जा"—गुडधाणी लापसी जैसी वस्तुए नियम से पक्वान्न-विगय होती है। न कि उत्कट-द्रव्य मात्र।

प्रश्न—किसी श्रावक की परिग्रहपरिमाण प्रमुख नियम पोथी को देखकर कोई भद्र श्रद्धालु उसी समय उन नियमों को स्वमति कल्पना से स्वीकार ले। बाद में सद्गुरु के सत्संग में इस विचार को सुने, उस समय यदि नियम भग की संभावना से किसी प्रकार की छूट करना चाहे तो कर सकता है या नहीं ?

मूल—जइ कोवि अभिग्गहिओ टिप्पणयं अन्नसावयग्गहियं ।
पालितो वि हु त सुगुरुदसणे कुणइ मुक्कलयं ॥६८॥

अर्थ—यदि कोई धर्म श्रद्धालु आभिग्रहिक स्वेच्छा से अन्य श्रावक गृहित परिग्रह परिमाण के टीपने को देख कर टीपणे की व्यवस्था का अनुकरण करता हुआ परिग्रहपरि-माण का पालन करता है। वही सुगुरुदर्शन के बाद यदि नियम में छूट करना चाहे तो कर सकता है।

प्रश्न—जिस आसन शयन पर काफी देरतक बैठा सोया जाय उसी की भोगोप भोग व्रत मे सख्या गिननी चाहिये ? या क्षण मात्र भी सोया बैठा जाय उन सबकी संख्या गिननी चाहिये ?

मूल—जत्थासणे निसन्नो, खण पि तं लग्गए उ संखाए ।
जत्थ कडिं पि हु दिज्जइ, गणिज्जए सा वि सिज्जति ॥६९॥

मूल—तो बहुकज्जपसाहणकए-वि परिभमइ सुबहुठाणेसु ॥
सो सयणासणमाणा लङ्घइ जइ कुणइ किर थोव ॥ ७० ॥

अर्थ—जिस आसन पर थोडा सा भी बैठा गया हो, जिस शय्यामें थोडी सी भी कमर सीधी की गई हो, उस आसन शयन की सख्या प्रती करनी—चाहिये। + + + इस लिये बहुत से कामों की साधना मे या यों भी घुमते हुए अपने लिये शयनासनों की सख्या अधिक रखनी चाहिये। यदि थोडा प्रमाण रखा जाय तो व्रत लघन-भग का दोष होता है।

प्रश्न—अनेक जाति के चाँवल आदि अलग २ पात्रोंमें पके हो तो एक द्रव्य होता है, या अनेक द्रव्य ?

मूल—नाणाजाइसमुब्भवतडुलसिद्ध पुढो भवे दव्व ।
निच्छयनयेण ववहारओ नये दव्वमेग ति ॥७१॥

अर्थ—अनेक जाति के चाँवलों से बना हुआ भोजन निश्चय नय से अलग द्रव्य और व्यवहार नय से एक द्रव्य रूप होता है।

प्रश्न—पार्श्वस्थादिकों के साथ रहने का और उन से आलोचना लेनेका पचाशक वृत्ति में महाश्रुतधरश्रीमदभयदेवसुरिजी महाराज ने निधान किया है। सो उन पार्श्वस्थादिकों की वदना करनी चाहिये या नहीं।

मूल—पचासगेसु पचसु वदणगा नेव साहु सड्डाण ।
लिहिया गीयत्थेहिं अन्नेसु य समयगथेसु ॥७२॥

अर्थ—यतिधर्म पचाशक मे और आलोचना पचाशक में पासत्थे, ओसन्ने, कुशीलिये, ससक्ते, और यथाच्छन्दे इन पांचप्रकार के नाम साधुओ को सुविहित साधु और श्रावकों कु वन्दना नहीं बताई है।

मूल—देवालयम्मि सावयपोसहसालाइ सावगाणेगे ।
जइ हुति तेवि तिपणङ सावियां जति निसुणति ॥७३॥

अर्थ—मन्दिर में श्रावक पौषधशाला में या ऐसे ही स्थानोंमें जहां कि सुविहित साधुओं के उपदेश होते हैं। वहां यदि अनेक श्रावक वे भी आठ पांच या कम से कम तीन मौजूद हों तो श्राविकाएं जाती हैं और व्याख्यान सुन सकती है।

प्रश्न—जिस प्रदेशमें सुविहित साधु नहीं होते हैं, वहां श्रावक जो कुछ प्रकरणादि धार्मिक विचारों को जानता है, वह दूसरे लोगों को उपदेश रूप में कहे या नहीं ?

मूल—जत्थ न हु सुविहिया हुति, सहुणो सुविहिया वि ते इत्थ जे ।
गीयत्थसुत्तत्थ—देसगा तेसिं विरहम्मि ॥७४॥

मूल—ज मुणइ सावओ त कहेइ सेसाण किं न ज पुट्ठ ।
पच्चुत्तरमेय तत्थ कहइ जइ सो वियाणइ त ॥७५॥

अर्थ—आगमो में सुविहित क्रियापात्र साधु—वे भि गीतार्थ के एव सूत्र और अर्थ के उपदेशक हों ऐसे—साधु जिस देशमें नहीं होते हैं, वहां सुविहित एव गीतार्थ गुरु की दयासे—श्रावक प्रकरणादि विचारों को जानता है, वह दूसरे लोगों को व्याख्यान द्वारा

कह सक्ता है। किसी के द्वारा "क्या ऐसा है? क्या ऐसा नहीं है?"—इत्यादि रूप प्रश्न किसी विषय मे पूछा जा, उसे भो सुगुरु से समझा हुआ हो तो "यह ऐसा है। यह ऐसा नहीं है" इत्यादि जवाव दे सकता है।

इसी बात को भद्र जीवों के हित लिये स्पष्ट कहते हैं—

मूल—सुगुरूण च विहारो, जत्थ न देसम्मि जायए कहवि।
पयरण वियार कुसलो, सुसावगो अत्थि ता कहउ ॥७६॥

अर्थ—जिस देशमे मार्ग आदि की निक्टता आदि कारणों से सद्गुरुओं का विहार नहीं होता है, वहा प्रकरण विचार कुशल श्रावक यदि हो तो व्याख्यान कर सकता है।

प्रश्न—जिस देशमें कारण वशात सुगुरु लोग नहीं पधारते हैं। वहां के निवासी स्थापना चार्य जी के सन्मुख आलोचना निमित्त तप करें या नहीं? और करें तो कैसा करें?

मूल—आलोयणानिमित्तं कह तवं कुणइ साविया सड्ढो।
इयपुट्ठे इणमुत्तरमिंह भन्नइ भो निसामेह ॥७७॥

अर्थ—आलोचना-शुद्धि ग्रहण करने के लिये किस विधि से श्रावक श्राविका तप ग्रहण करे? ऐसा पूछने पर भो भव्य? सुनिय यह विधि यहां बताई जाती है।

मूल—पच परमेट्ठिपुव्वं ठवणायरिय ठविउ विहिणाओ।
तत्थ खमासमणदुगं, दाउ मुहपत्तिपेहणय ॥७८॥
तत्तो दुआलसावत्तवदणंते य संदिसाविज्जा।
आलोयणातवं तो दिज्जा अण्ण खमासमण ॥७९॥
एवं भण्णइ तत्तो करेमि आलोयणातव उचियं।
उस्सग्गेण तत्तो कुणइ तवं अत्तसुद्धिकए ॥८०॥

अर्थ—आलोचना ग्रहण विधि—उचित स्थान में भूमिकी प्रमार्जना कर पच परमेष्ठी नमस्कार मत्र पढ कर विधि पूर्वक स्थापना चार्य जी को स्थापना करे। बादमे खमासमण देकर इच्छाकारेण सदिसह भगवन्? सोधि मुहपत्ति पडिलेहु दूसरा खमासमण दे मुहपत्ति पडिलेहण करे। बाद द्वादशावर्त्त वादणा दोवार देव। तदन्तर खमासमण देकर इच्छा कारेण सदिसह भगवन् आलोचणा तप सन्माहु?। दूसरा खमासमण दे इच्छा कारेण सदिसह भगवन्? आलोचणा तप करू।

प्रश्न—उक्त रीति से तप और ... करने में समर्थ आलोचक क्या तप ही करे? या तपो भेदरूप स्वाध्याय ...

मूल—सज्झायतवसमत्थो जइ सड्ढो साविगा वि अह हुज्जा।
ता अणिगूहियविरिया, कुणति तवमागमुत्तमिण ॥८१॥

अर्थ—स्वाध्याय और उपवासादि तप में श्रावक श्राविका समर्थ हैं तो शक्ति को नहीं छुपाते हुए आगमों में फरमाया हुआ आलोचनार्थ यह उपवासादिक तप ही करें। स्वाध्याय को तपोभेद माना जरूर है पर जीतकल्प चूर्णि में प्रायश्चित्त के भेदों में उसकी गिनती नहीं की गई है। कायोत्सर्ग भी तपभेद है फिर भी उसका "काउसग्गारिह"— 'तवारिह" रूपसे अलग विधान किया है। "तवारिह"—प्रायश्चित्त अनशन तप से ही होता है।

यदि ऐसा है तो आलोचना में इतनी सज्झाय करना एसा क्यों कहा जाता है ?। जीतव्यवहार से। तप में अशक्त मनुष्य शुद्धि के लिये स्वाध्याय भी कर सकता है यह एक अपवाद है।

प्रश्न—आलोचना तप करते हुए क्या क्या करना चाहिये ? गाथाष्टक में बताते हैं—

मूल—आलोअणानिमित्त पारद्ध तवम्मि फासुगाहारो।
सच्चित्तवज्जण बंभचेरकरण च अविभूसा ॥८२॥

अर्थ—आलोचना निमित्त प्रारम्भ किये हुये तप में प्रासुक आहार, सचित्त का त्याग ब्रह्मचर्य-पालन और अविभूषा—शृङ्गार त्याग करना चाहिये।

मूल—इगालाइ पनरसकम्मादाणाण होइ परिहारो।
विकहोयहासकलह पमाय भोगातिरेग च ॥८३॥

अर्थ—अङ्गार कर्म आदिक पनरहकर्मा दानों का, विकथा, उपहास, कलह प्रमाद और भोगों की अधिकताका भी त्याग करना चाहिये।

मूल—कुज्जा नाहिगनिद परपरिवाय च पावट्ठाणाण।
परिहरण अप्पमाओ, कायव्वो सुद्ध धम्मत्थे ॥८४॥

अर्थ—अधिक नींद नहीं लेनी चाहिये। पर निन्दा और पापस्थानों का परिहार करना चाहिये। शुद्ध धर्म कार्योंमें अप्रमाद सेवन करना चाहिये।

मूल—तिक्काल चियवदणमित्थ जहन्नेण मज्झिमेण पुणो।
वारा उ पच सत्त च उक्कोसेण फुड कुज्जा ॥८५॥

अर्थ—आलोचना में जघन्य से त्रिकाल मध्यम भाव से पांच वार और उत्कृष्ट सात वार चैत्य वन्दन करे।

मूल—पडिक्कमेणे चेइयहरे भोयणममयम्मि तह य सवरणे ।
पडिक्कमणसुयणपडिबोहकालिय मत्तहा जहणो ॥८६॥

अर्थ—अहो रात्रि में १—प्राभातिक प्रतिक्रमण के अन्त मे २—श्रीजिनमन्दिर म ३—प्रत्याख्यान पारने से पहिले ४—भोजन के बाद प्रत्याख्यान करने के पहिले ५—दैवसिक प्रतिक्रमण के प्रारंभ में ६—रात्रि सथारा पौरुषी पढने से पहिले सोते समय ७—सोकर के जागने पर ऐसे सात बार साधुओं को चैत्य वन्दन करने होते हैं।

प्रश्न—गृहस्थोंको सात—पांच-तीन बार चैत्य वन्दन कैसे होते हैं?

मूल—पडिक्कमिओ गिहिणो वि हु सत्तविह पचहा उ इयरस्स ।
होइ जहन्नेण पुणो तीसुवि सझासु इय तिविहं ॥८७॥

अर्थ—उभयकाल आवश्यक-प्रतिक्रमण करते हुए गृहस्थ को भी उत्कृष्ट रूपसे सातबार प्रतिक्रमण न करते हुए, मध्यम रूपसे पाचवार, और जघन्य रूपसे तीन सध्याओं में तीन बार चैत्य वन्दन करना चाहिये।

मूल—सुसाहूजिणाणा पूयणं च साहम्मियाण चिंत च ।
अपुव्व पढण-सवण तदत्थ परिभावणं कुज्जा ॥८८॥

अर्थ—आलोचना करनेवाला सुसाधुओ को प्रतिलाभे। जिनेश्वरों की पूजा करे। साधर्मिकों का खयाल रखे। पहिले नहीं पढा ऐसा नया पाठ पढे, सुने, और उसके अर्थों का चिन्तन मनन निदि ध्यासन करे।

मूल—रुदट्ट झाणदुग, वज्जित्ता तह करिज्ज सज्झाय ।
आयारे पचविहे सया वि अब्भुज्जमं कुज्जा ॥८९॥

अर्थ—आलोचना करनेवाला विषय वासना-जन्य आर्तध्यान, और हिंसा भावना जन्य रौद्रध्यान, इन दोनों दुध्यानों का त्याग करे। हमेशा स्वाध्याय करे और ज्ञान-दर्शन चारित्र-तप और वीर्यरूप पाच आचारों के पालन मे अति उत्साह दिखावें।

× × ×

दुष्कर क्रियामात्र को करनेवाला यदि उत्सूत्र भाषी हो तो उसको कुसग से बचना चाहिये। यह बताते हैं—

मूल—उरसुत्तभासगा जे ते दुक्कर कारगा वि सच्छदा
ताण न ५म कप्पाइ कप्पे जओ भणिय

अर्थ—आगमों से विपरीत बातों को बोलने वाले जो हैं वे स्वच्छन्दी दुष्कर क्रिया करनेवाले हों तो भी उनका दर्शन करना नहीं कल्पता है। ऐसा कल्प में कहा है। कल्प की बात बताते हैं—

मूल—जे जिणवयणुत्तिन्न वयण भासंति जे य मन्नति ।
अहवा सद्दिट्ठीण तद्दसण पि ससारवुड्ढिकर ॥९१॥

अर्थ—जो जिन वचनो से विपरीत बोलते हैं, विश्वास करते हैं। उनका दर्शन सम्य दृष्टियों के लिये ससार वृद्धि का कारण होता है।

× × ×

पांच प्रकार के आचारों का स्वरूप बताते हैं—

मूल—नाणम्मि दसणम्मि य चरणमि तवमि तह य वीरियमि ।
आयरण आयारो इय एमो पचहा भणिओ ॥

अर्थ—१—ज्ञान मे प्रवृत्ति-ज्ञानाचार २-श्रद्धा बढाने में प्रवृत्ति दर्शनाचार-३-सदाचार मे प्रवृत्ति चारित्राचार ४ तपश्चर्या में प्रवृत्ति तपाचार और-५-शासन सेवा में प्रवृत्ति वीर्याचार। ऐसे आचार पांच प्रकार का बताया है।

× × ×

पाच आचारों के प्रत्येक के भेदों की सख्या बताते हैं—

मूल—नाण दसणमहचरणमत्थि पत्तेयमट्ठभेइल्ल ।
वारस तवम्मि छत्तीस वीरिए हुति इमे मिलिया ॥९३॥

अर्थ—ज्ञानाचार दर्शनाचार और चारित्राचार प्रत्येक आठ आठ भेदवाला होता है। तपाचार में बारह भेद कुल मिलाने से ये छत्तीस भेद होते हैं। वीर्याचार में उपरोक्त छत्तीसों ही भेद होते हैं।

× × ×

जिस विधि से आलोचना तप किया जाता है, वह कहते हैं —

मूल—आलोयणातवो पुण इत्थ एगासण तिहाहार ।
पुरिमड्ढतवो इह जो सो सव्वाहारचागाओ ॥९४॥

अर्थ—आलोचना तप इस तरह होता है। एकाशन किये बाद त्रिविध आहार का त्याग करना चाहिये। पुरिमार्द्ध तप पुरिमड्ढ पौरुषी तप दिन के पहिले दो प्रहर तक चार आहारों का त्याग करना चाहिये। आलोचना सबधि यदि एकाशना आदि तप हो तो बाद में तिविहार होता है।

प्रश्न—निविगय में क्या विधि है ? बताते हैं।

मूल--तं होइ निव्विगइय, ज किर उक्कोसदव्वचाएण।
कीरइ जं उक्कोस, तं दव्वं पुण निसामेह ॥९५॥
खीरी-खंडं-खज्जूर-सक्कर-दक्ख-दाडिमाई य।
तिलवट्टी वडयाइ करबओ चूरिम च तहा ॥९६॥
नालियर मोइयमडिया, संतलिय भज्जियाचणए।
आसुरि अंबिलिया पाणगाइ, किल्लाडियाइ तहा ॥९७॥
तंदुलकढिअं दुद्ध घोलं एयाइ भूरि भेयाणि।
उक्कोसगदव्वाइ वज्जिज्जा निव्विगइयम्मि ॥९८॥

अर्थ—विकार-वर्द्धक उत्कट द्रव्यो के त्याग से एक बार भोजन करने को आप्त पुरुष निविगय फरमाते हैं। उत्कट-द्रव्य जो हैं वे इस प्रकार हैं। खीर, खांड, खजूर, सक्कर, द्राक्षा दाडिम आदि फल,तिल पापडी, बड़े, करवा, चूरमा, नारियलगिरि, मोदिक, मन्डिका पूरणपोली, भूजे हुए तले हुए चने, राइता इमली का पानी, फटे हुए दूध मारिका आदि, थोड़े चावल डाल कर कढा हुआ दूध, दहिका घोलिया, ऐसे अनेक प्रकार के उत्कट द्रव्यों को निविगय मे नहीं खना चाहिये।

उत्कट द्रव्य का क्या लक्षण है ?

मूल—विगई दव्वेण हया, जाय उक्कोसिय भवे दव्व।
केइतयं विगइगय, भणति त सुयमय नत्थि ॥९९॥

अर्थ—दूध, दही, घी, तैल, गुड, तली हुई चीजे, ये छह विषय दूसरे द्रव्य से उपहत होने पर उत्कट द्रव्य हो जाता है। कई लोग उत्कट द्रव्य को विगय कहते हैं जो श्रुत समत नही है।

प्रश्न—ऊपर बताये उत्कट द्रव्यों का त्याग आलोचना सबधि निविगय में होता है या हर एक निनिगय मे करना चाहिये ?।

मूल—कल्लाण तिहीसु पुणो, ज कीरइ निव्विगय म्मि
तत्थ खडादि दव्वमुक्कोसिय, तु उस्सगओ

अर्थ—कल्याणक दिनों मे पर्व तिथियों में या और किसी सद्द्रव्य से निर्विगय किया जाता है उसमें उत्कृट द्रव्य खडादि वस्तुयें उत्सग विधि से छोड देना चाहिये।

प्रश्न—अपवाद यह उपस्थित होने पर उत्कृट द्रव्य स्वय खाले या गुरु आज्ञा से खाना चाहिये।

मूल—गीयत्था जुगपवरा, आयरिया दव्व-खेत्तकालन्नू।
उक्कोमय तु दव्व, कहति कय निव्वियरमा वि ॥१०१

अर्थ - द्रव्य क्षेत्रकाल और भाव को जानने वाले गीतार्थ युग प्रधान आचार्य निविगय करने वाले भव्यात्मा को उत्कृट द्रव्य लेने की आज्ञा दे सकते हैं।

मूल—उवहाणतवपइट्ठा अममत्थो भावओ य सुविसुद्धो।
उक्कोसग तु दव्व विगइच्चाए वि तस्सुचिय ॥१०२॥

अर्थ—उपधान तप मे प्रवेश किया हुआ सुविशुद्ध भाव वाला असमर्थ आराधक विगय त्याग करने पर भी उसनिविगय तप के उपयुक्त उत्कृट द्रव्य का उपयोग कर सकता है।

मूल—जा पुण सइ सामत्थे, काऊण सव्वविगइपरिहार।
भक्खइ खडाइय नियमा, सो होइ पच्छित्ती ॥१०३॥

अर्थ—फिर जो सामर्थ्य के रहते हुए सब विगय के त्याग को अर्थात् निविगय पच्चक्खाण करके यदि खडादि उत्कृट द्रव्य को खाता है तो नियम से वह प्रायश्चित का भागी होता है।

मूल—इत्थ पत्थावे खण्डपुच्छए उत्तर कय।

अर्थ—अकारण उत्कृट द्रव्य खाने से निविगय पच्चक्खाण वाले को दोष बताने के इस प्रस्ताव मे खाँड खाना चाहिये या नहीं इस प्रश्न, का उत्तर एक सौ तेतीस वीं गाथा मे आगे बताया है—कि नहीं खाना चाहिये।

मूल—गिहिणो इह विहियायबिलस्स कप्पति दुन्नि दव्वाणि।
एग समुचियमन्न बीय पुण फामुग नीर ॥१०४॥

अर्थ—आंबिल तप करने वाले गृहस्थ को एक समुचित अन्न और दूसरा अचित्त जल ये दो द्रव्य खाने पीने मे कल्पते है।

मूल—गोहुम-चणग-जवेहिं मुग्गेहिं सत्तुएहिं छासीए।
घुघुरिया वेढिमियाइ इड्डुरियाहिं न त कुज्जा ॥१०५॥

अर्थ—भुजे हुए गेहूं-चने-जौ से, जौ के सत्तु से, अधपकी धानकी घुघरी से चेढ मिसे, देश विशेष प्रसिद्ध इडुरिका से, गरम पानी और त्रिफला जलसे अतिरिक्त छाछ आदि पीने योग्य पदार्थों से आंबिल न करें।

प्रश्न—आंबिल में दो द्रव्य ही लेने की विधि है तो दतशुद्धिके लिये सीलो (तीनला) का उपयोग करना चाहिये या नहीं ?

मूल—जे पुण सिलियाइ विणा, मुहसुद्धिं काउ इत्थमसमत्थो ।
सो कडुयकसायरस, सिलिय गिण्हइ न से भङ्गो ॥

अर्थ—जो सिली के बिना मुख-दांतकी शुद्धि करनेमें असमर्थ हो वो वह कडुए कसैले रसवाले नीम आदि की सीली ले सकता है। इससे आंबिल में दो द्रव्य नियम विधिका भंग नहीं होता।

प्रश्न—उपवास में आहार विधि क्या है ?

मूल—आहारतिग वज्जिय सजिय न जल पि पियइ पवररस ।
जो किर कयउववासो सो वासं लहइ परमपदे ॥१०७॥

अर्थ—जो असण, खादिम और स्वादिम ऐसे तीन प्रकार के आहारों का त्याग करके प्रधान रसवाले सजीव—सचित्त पानी को नहीं पीते हैं व परम पद-मोक्ष में निवास प्राप्त करते हैं।

× × ×

प्रश्न—आलोचना तप विधि कही गई। इसमें एव दूसरे कल्याणक आदि तप संबंधी निविगय आदि तप में जो नहीं कल्पता है सो दीखाते हैं।

मूल—पायच्छित्तविसोहणकरणखगम्मि तवम्मि पारद्धे ।
जलपिवण कप्पइ नो निसाइ निव्वियाइ सेसतवे॥१०८॥

अर्थ—प्रायश्चित विशुद्धि करने में समर्थ आलोचना तप का प्रारंभ करने पर, एव कल्याणकादि संबंधी निविगय आदि शेष तप में रात्री में जलपान नहीं करना चाहिये।

प्रश्न—निविगय आदि तप में तैल आदि विकृतियों का बाह्य परिभोग करना चाहिये या नहीं।

मूल—पायाईणब्भगो निव्वियायंबिलोववासेसु ।
वायाइपीडिएहिं, कायव्वो अन्नहा न करे ॥१०९॥

अर्थ—निविगय- आंबिल और उपवास में वायु आदि रोग से पीड़ित व्यक्ति अप-

याद से हाथ पैर आदि शरीर में तैल आदि का मालिश कर सक्ता है। अन्यथा शृंगार की दृष्टि से ऐसा नहीं करना चाहिये।

मूल—आलोयणाविसुद्धिं, जो काउ वछए स सज्झाय।
वज्जिउ कालवेल, करेइ ताओ इमे चउरो। ॥११०॥

अर्थ—जो शुद्धात्मा अपने पापोंकी आलोचना विशुद्धि करने को चाहता है वह महानुभाव चार कालवेला को छोड़कर स्वाध्याय को करे।

मूल—चउपोरिसिओ दिवसो, दिणमज्झते य दुन्नि घडियाओ।
एव रयणीमज्झे, अन्तमि य ताओ चत्तारि ॥१११॥

अर्थ—चार पौरुषी का एक दिन होता है। दीनके मध्यमें और अन्तमें दो दो घड़िये ऐसे दिन रात के मध्य और अन्तमें चारकाल वेलाएँ होती है। इनमे स्वाध्याय नहीं करना चाहिये।

प्रश्न—कालवेला मे ही स्वाध्याय नहीं करना या दूसरे किसी काल में भी ?।

मूल—चित्ता सोए सियसत्तमट्ठनवमि तिसु तिहीसुं पि।
बहुसुय-निसिद्धमेय न गुणिज्जुवएसमालाइ ॥११२॥

अर्थ—चैत्र और आसोज मे शुक्ल पक्षकी सप्तमी अष्टमी और नवमी इन तीन तिथियों में भी उपदेश माला आदि प्रकरणो को पढना बहुश्रुत गीतार्थ आचार्यों ने निषेध किया है।

\+　　　　+　　　　+

ऊपरकी गाथामें उपदेशमाला आदि कहा गया है, तो आदि शब्द से किन किन प्रकरणों को लेना चाहिये उनके नाम बताते हैं।

मूल—उवएसपए पचासए तह पचवत्थुगसयग।
सयरी कम्मविवाग छयासि य तह दिवड्ढसय ॥११३॥
जीवसमास सगहणिकम्मपयडी उ पिंडसुद्धि च।
पडिकमणसामायारिं थेरावलिय सपडिक्कमण ॥११४॥
सामाइयचीवदणवदणय काउसग्गसुत्त च।
पच्चक्खाण तह पचसगह अणुवयाइविहिं ॥११५॥
खित्तसमास पवयणसदोहुवएसमालपुणसुत्त।
सावयपन्नति नरय-वन्नण सम्मसत्तरिय ॥११६॥

अट्ठय सोड सगाइ तह वीसं विसियाउ पसमरई ।
जिए सत्तरियं एवमाइ जत्थ सिद्धन्तपरमत्थो ॥११७॥
भन्नइ त सेस पि हु पवयणमिह चउसु कालवेलासु ।
न गुणिज्जा सेयासुं चितासोए तिसु तिहिसु ॥११८॥

अर्थ—उपदेशपद, पचाशक, पचवस्तु, शतक, कर्मसप्ततिका, कर्मविपाक, षडशीति, द्रव्यदेशतक, जीवसमास, भग्रहणि, कर्मप्रकृति, पिण्डविशुद्धि, प्रतिक्रमणसमाचारी, स्थविरावली, प्रतिक्रमणसूत्र, सामायिक, चैत्यवन्दन, गुरुवन्दन, काउसग्गसूत्र, प्रत्याख्यानभाष्य, पंचसग्रह, अणुव्रतादि विधि, क्षेत्रसमास, प्रवचनसार, उपदेशमाला, पचसूत्र श्रावकप्रज्ञप्ति, नरकवर्णनकुलक, सम्यक्त्वसप्ततिका, अष्टकजी, षोडशक, विंशतिस्थानक, प्रशमरति, जिनसप्ततिका, इत्यादि प्रकरण जिनमे सिद्धान्त का परमार्थ पढा जाता है। वह अशेष प्रवचन चारकाल वेलाओंमे चैत्र आसोजमे शुक्ल पक्षकी सप्तमी अष्टमी और नवमी इन तीन तिथियोमे नहीं पढना चाहिए ।

प्रश्न—स्वाध्याय किस विधि से करने से सफल होता है ?

मूल—पढम पडिक्कमिऊण इरियावहिय जहा समायारिं ।
निंद विकह कलह हासकिड्डाइ वज्जंतो ॥११९॥
वयणदुवारे मुहणतय, च वत्थचल अह दाउ ।
सुत्तत्थे उवउत्तो सज्झाय कुणइ सुणइ पढ ॥१२०॥

अर्थ—पहिले इर्यावही करके विधि पूर्वक निद्रा, विकथा, लडाई, हँसी, क्रीड़ा आदि को छोडता हुआ । मुखवस्त्रिका, रूमाल या दुपट्टा अदि से मुखको जयणा करके सूत्र और अर्थमें उपयोगीवान् होता हुआ स्वाध्याय करे सुने और पढे।

* * *

प्रश्न—उपवास करने में अशक्त दूसरे ढंग से भी उपवास की पूर्ति कर सकता है क्या ? हाँ, बताते हैं ।

मूल—चउरिक्कासणएहिं उववासो तहय निव्वियतएण ।
आयंबिलेहिं दोहिं, बारसपुरिमड्ढ उववासा ॥१२१॥

अर्थ—चार इकासनोंसे, तीन नीवियो से, दो आयंबिलों से, एवं बारह पुरिमड्ढोंसे, एक उपवास होता है ।

मूल—सज्झायसहस्सेहिं दोहिं [illegible] हविज्ज उववासो ।
कारणओ करसइ पुण [illegible]सणेहिं च ॥१२२॥

अर्थ—आलोचना का उपवास रोग आदि कारणसे किसी सुकुमार प्रकृति वाले को दो हजार श्लोक प्रमाण स्वाध्याय करके पूर्ण करना चाहिये।

मूल—सतमि बले सतमि वीरिए, पुरिसकारि सतमि।
जह भणिय सुद्धिकए, करिज्ज आलोयणाइ तव ॥१२३॥

अर्थ—बल शरीर सामर्थ्य के रहते हुए, वीर्यमन उत्साहके रहते हुए, और अंगीकृत निर्वाहक रूप पुरुषत्व के रहते हुए आलोचनाचार्य ने जैसा फरमाया है। वैसा, आत्म-शुद्धि के लिये तप करना चाहिए। मनमाने ढंगसे नहीं करना चाहिये।

मूल—अह नत्थि शरीर बल तवसत्ती वि हु न तारिसा होइ।
भावो विज्जइ सुद्धो ता अववाएण कुज्ज तव ॥१२४॥

अर्थ—पश्चात्तरम यदि वैसा देह सामर्थ्य नहीं है। पर आत्म शुद्धि के लिये भाव विद्यमान है, तो अपवाद से एकासन आदि द्वारा उपवास आदि तप हो सकता है।

मूल—सुगुरूण अणाए करिज्ज आलोयणातव भव्वो।
इय भणितसूत्रविधिना, स लहु परमप्पय लहइ ॥१२५॥

अर्थ—श्रीसद्गुरुकी आज्ञा से इस प्रकार सूत्रमें बताई हुई विधि से जो भव्य जीव आलोचना तप करता है। वह जल्दीसे परमपद को प्राप्त करता है।

प्रश्न—शिथिलाचारी कुगुरु द्वारा दी हुई आलोचना प्रमाणभूत होती है या अप्रमाणभूत ? कहते हैं।

मूल—केणावि सावएण मुद्धेण सिढिलसूरिपासम्मि।
आलोयणा य गहिया, पमाणमिह किं न सा होइ ॥१२६॥

अर्थ—किसी भोले श्रावकने शिथिलाचारवाले आचार्य के पास आलोचना ग्रहणकी हो तो वह जैन शासन में प्रमाणिक नहीं होती है क्या ?

मूल—जमगीयत्थो सिढिलो आउट्टिपमायदप्पकप्पेसु।
न वि जाणइ पच्छित दाउ अह त पर देइ ॥१२७॥

अर्थ—जो अगीतार्थ शिथिल आचार वाला आकुट्टि हिंसादि रूप, प्रमाद विषय सेवा रूप दर्प कुदना आदि क्रिया रूप, कल्प कारणम करना इन विषयोंमें प्रायश्चित्त देना नहीं जानता है, फिर भी दे देता है, तो वह विराधक होता है। लेनेवाले की आलोचना भी प्रमाणिक नहीं होती। कपोल कल्पनामात्र होने से।

* * *

न जानकर भी देता है उसकी विराधकता तो ठीक, पर त्रिकरण शुद्धि से ग्राहक की आलोचना अप्रमाणिक क्यों होती है ?—कहते हैं।

मूल----तत्थ त्थि गाहगस्स वि दोसो सो दायगस्स अहिययगे।
तित्थगराणाभंगो, आणा वेसा जओ भणियं ॥१२८॥

अर्थ—अगीतार्थ से आलोचना लेने वाले को भी दोष ही होता है। यह दोष देने वाले को अधिकतर होता है। क्यों कि ऐसा करनेसे तीर्थंकर देवों की आज्ञा का भंग होता है। ऐसी आज्ञा है, इसीलिये यह बात कही है।

मूल----आलोयण चउभेया, अरिहो अरिहम्मि पढमओ भंगो।
अरिहम्मि अणरिहो पुण, विओ अरिहो वि जमणरिहे।
एसो तइओ जत्थेव अणरिहा दोवि सो चउत्थो उ ॥१२९॥

अर्थ—अधिकारी भेद से आलोचनाके चार भेद हैं। देनेवाला योग्य हो, और लेनेवाला भी योग्य हो, यह पहिला भेद हुआ। देनेवाला योग्य हो पर लेने वाला अयोग्य हो यह दूसरा भेद है। देनेवाला अयोग्य हो, और लेनेवाला योग्य हो, यह तीसरा भेद है। जहाँ देनेवाला भी अयोग्य हो और लेनेवाला भी अयोग्य हो, यह चौथा भेद हुआ।

मूल----पढमो उस्सग्गेण, सुद्धो अववायओ बीओ।
तइओ पुण अच्चन्तावववायओ कम्मि होइ कस्स वि य।
आणा वज्झोभंगो एस चउत्थो तओ दोसो ॥१३०-१३१॥

अर्थ—ऊपर बताये चार भेदो मे पहिला भेद उत्सर्ग से शुद्ध माना गया है। अपवाद से दूसरा भेद शुद्ध है। तीसरा अत्यन्त अपवाद की हालत मे कभी किसी खास व्यक्ति विशेष के लिये ठीक माना जा सकता है। चौथा भेद जो है वह तीर्थ कर देवो की आज्ञा से बाह्य है। इसीलिये वह दोष पूर्ण है।

मूल----दुण्हवि य अयाणते पच्चक्खाण पि ज मुसावाओ।
आलोयणा वि एव गहिया हुज्जा मुसावाओ ॥१३२॥

अर्थ—प्रत्याख्यान करानेवाला और प्रत्याख्यान करनेवाला दोनों जानकारी से हीन हों तो वह प्रत्याख्यान भी मृषावाद झूठमात्र हो जाता है, और इसी प्रकार अजानते अनधिकारी रूप से आलोचना करने और कराने वाले को भी मृषावाद झूँठका दोष लगता है।

प्रश्न—त्यागी हुई एक दो तीन आदि विगयोंको और तत्संबंधी उत्कट द्रव्यों को खाना

नहीं कल्पता है, समान दोष होने से। इसी तरह निविगय में भी सभी विगयों को एवं उनके उत्कट द्रव्योंको छोड़ देने चाहिये क्या ?

मूल—दो तिन्नि य विगईओ, पच्चक्खतेण मुक्कलाउ कया।
ताओ भोअण समए, सव्वा भुत्ता गुडेण विणा ॥१३३॥

मूल--ता खण्डसक्कराओ, सो भुंजइ किं न वेति इयपुच्छा।
(उत्तर मेव) तत्थ उ, सो वि न भक्खिज्ज खण्डाइ ॥१३४॥

अर्थ—दो, तीन विगयों को प्रत्याख्यान करते हुए खुली रखी, उन सबको भोजन के समय गुड को छोड़ कर खाली—तो गुड विगय के उत्कट द्रव्य खांड शक्कर आदि को वह प्रत्याख्यान करनेवाला व्यक्ति—खावे या नहीं ? इस प्रश्नका यह उत्तर है कि—न खावे। निविगय में भी यही बात जानना।

* * *

उत्सर्गसे उत्कट द्रव्यको नहीं खाना बता कर अपवाद विधि को बताते हैं।

मूल—जइ पित्ताई-रोगो सो खण्डाईहिं उवसमइ तस्स।
ता तग्गहण जुत्त, रसगिद्धीए न त भुंजे ॥१३५॥

अर्थ—यदि प्रत्याख्यान करने वाले को पित्त आदि रोग हो जाय और वह खांड आदि उत्कट द्रव्यों से उपशान्त होता हो तो उनका ग्रहण करना युक्त हो सकता है। रस-गृद्धि जीभ के स्वाद के लिये अयुक्त होगा।

प्रश्न—कई लोग सांगरी और राइको द्विदल नहीं मानते। तो उनको द्विदल मानना चाहिये या नहीं ?

मूल—ज सगरराईआ भवति विदल नवत्ति पुट्ठाओ।
तत्थेव भन्नइ राइयाअ विदल न भणति ॥१३६॥

अर्थ—क्या सांगरियाँ और राई द्विदल हैं या नहीं ? इस प्रश्नके जवाब में कहते हैं कि उनमें राई द्विदल नहीं कही जाती।

मूल—वरहासाईसु ठाणेसु ताओ ज धाणगमि पक्खित्तुं।
पीलिज्जति तिल-सरिस मुव्व तिल्ला वि न मुयति ॥१३७॥

अर्थ—वरहास आदि देश विदेशों में राईको घाणीमें डाल कर पीलते हैं। राई भी तिल-सरसों के जैसे तैल को छोड़ती है। इस लिये गोरस में द्विदल के जैसा दोष नहीं गया।

मूल—जह किर चवलयचणया विदला तह संगरावि विदलं ति ।
दिणचरिया नवपयपयरणेसु लिहिया उ फलिवग्गे ॥१३८॥

अर्थ—जैसे चँवले और चने द्विदल हैं। वैसे ही—सांगरियाँ भी द्विदल ही हैं। क्यों कि दिनचर्या और नवपदप्रकरण आदि प्रकरणों मे सांगरियों को फलि वर्ग में लिखा गया है।

मूल—नय संगरबीयाओ तिल्लुप्पत्ती कया वि सम्भवइ ।
दलिए दुन्नि दलाइ मुग्गाईण व दीसंति ॥१३९॥

अर्थ—सांगरी के बीजों से कभी भी तैल की उत्पत्ति सम्भवित नहीं है। एवं घट्टी में दल जाने पर दो दल मुग आदि के जैसे होते हैं। इस लिये सांगरी द्विदल ही है।

मूल—एवं कडुय-गोवारपभियमारन्निय भवे विदलं ।
एयं न सावएणं भुत्तव्वं गोरसेण समं भणियं ॥१४०॥

अर्थ—इसी प्रकार कडुक-ग्वार आदि जंगली धान्य—जो कि द्विदल होते हैं। उनको गोरस-कच्चे दही छाछके साथ श्रावकको नहीं खाना चाहिये। ऐसा पूर्वाचार्यों ने फरमाया है।

मूल—पंचुंबरि चउविगई हिम विस करगे य सव्वमट्टीय ।
राईभोयणग चिय, बहुबीयणतसधाण ॥१४१॥
घोलवडावायगण अमुणिय नामाइ पुप्फफलयाइ ।
तुच्छफलं चलियरसं वज्जह वज्जाणि बावीसं ॥१४२॥

अर्थ—बड़काफल, पीपलकाफल, गुलरकाफल, पीलुकाफल, पीपुकाफल, इन पांच उदुंबर फलोंको शराब, मांस, सहत, मक्खन, इन चार महाविगयों को शरदी मे जमा हुआ पानी हिम, जहर, बर्फादि के गड़े सब प्रकार की मिट्टी रात्रीभोजन, बहुबीज, अनंतकाय, सन्धान—कालातीत अचार, घोलवड़े बैंगन अज्ञात फलफूल, चलितरस इस वस्तु इन त्यागने योग्य बाबीस अभक्ष्यों को अपने हितके लिये भव्य जीव छोड़ दें।

प्रश्न—स्वाधीन कुशील का त्याग करने वालेको पराधीन अवस्थामे कुशील सेवन हो जाय तो व्रत भंग होगा या नहीं?

मूल—मणुय सुरतिरिय विसय दुविहं तिविहेण थूलगमबंभ ।
सवसा चयामि मुत्तुं सयणाइ सदार कारवणं ॥१४३॥

श्रीयुगप्रधानचतुष्पादिका का अंतिम पत्र।

परिशिष्ट

श्रीदिल्लीश्वरपातिसाह—अल्लावदीन—राज्यान्तर्गत—कन्नाणपुरवास्तव्य—वास्तुसार—

ज्योतिष्कसार—गणितसार—रत्नपरिक्षा—द्रव्यपरीक्षादिग्रन्थकार—

श्रीमालकुलावतंस—परमजैन चन्द्रांगज—ठक्कुरफेरू-विरचिता—

श्रीयुगप्रधानचतुष्पादिका ।

प्रस्तुत ग्रंथकर्ता ठक्कुरफेरु का विशेष परिचय तो उपलब्ध नहीं होता पर उनके द्वारा निर्मित ग्रन्थों से ज्ञात होता है कि दिल्लीश्वर बादशाह अल्लाउद्दीन खीलजी के राज्यकाल में विद्यमान थे। आप राज्यकर्मचारियो में से उच्चपद पर और ग्रामाधिपति भी थे। आपने युवावस्था मे प्रथम ही युगप्रधानचतुष्पादिका नामक स्तुत्यात्मक ग्रन्थ की रचना की 'युगप्रधान" याने तत्कालीन जैन संघ मे होने वाले प्रधान आचार्य "चतुष्पदिका" याने उन आचार्यों के गुणों का चार चरणवाले पद्यो द्वारा स्तुति। प्रस्तुत ग्रंथ के आदि में भगवान् महावीर स्वामी को नमस्कार कर एवं सरस्वती देवी का स्मरण करने के बाद युगप्रधान आचार्यों का संक्षिप्त वर्णन प्रारम्भ होता है, जिसमे सुधर्मा स्वामी से लगाकर जिनचंद्रसूरि पर्यंत युगप्रधान आचार्यो के गुणो वर्णन है।

ग्रंथकी महिमा—

संघ सहित फेरु इस प्रकार कहता है कि उपरोक्त बताये हुए युगप्रधान आचार्यों के गुणो की जो कोई स्तुति करता है, एवं गुणों का अध्ययन करता है तथा गुणों की आवृत्ति करता है, और नियमपूर्वक मंत्रवत् गुणों का नित्य स्मरण करता है, वह प्राणी मोक्षलक्ष्मी को अवश्य प्राप्त कर सकता है। संवत् १३४७ के माघ मास में कन्नाणपुर मे राजशेखर वाचनाचार्य के सम्मुख गुरुभक्ति से चंद्र के पुत्र फेरु ने यह युगप्रधानचतुष्पदिका, नामक काव्य की रचना की।

अंतमें शुभकामना—

पांच मेरु पर्वत, एवं संपूर्ण द्वीप, चंद्र, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र, और भी तारा वगैरह (समुद्र) और पृथ्वी जिस प्रकार स्थिर है उसी प्रकार साधु—साध्वी, श्रावक—श्राविकारूप चतुर्विधसंघ सर्व प्रकार से समृद्धिवान होता हुआ निश्चल रहे ?

अन्य ग्रन्थ रचना—

(२) ज्योतिष्कसार, संवत १३७२ मे ... १३७४। ग्रन्थ में ज्योतिष का विषय चार भाग में पूर्ण होता है।

(३) वास्तुसार, सं० १३७२ ... शिल्प कला विज्ञान (

पभंवसूरि--सिज्जभउ सुगुरु, जसोभद्दु सूरीसरु पवरु ।
सिरिसभूयविजउ मुणितिलउ, पणमहु भद्दबाहु गुणनिलउ ॥ ४ ॥

सुगुरु श्रीप्रभवसूरि, एवं सूरिप्रवर श्रीयशोभद्र सूरीश्वरजी और मुनियों में तिलक समान श्रीशभूतविजयाचार्य तथैव गुणो के स्थान भूत श्रीभद्रबाहुस्वामी को प्रणाम करो ॥ ४ ॥

भद्दबाहुसूरीसरपासि, चउदसपुव्वपढिय गुणरासि ।
भजिउ जेण मयणभडवाउ, जयउ सु थुलिभद्द मुणिराउ ॥ ५ ॥

जिन्होंने श्रीभद्रबाहुसूरीश्वरजीके पास चौदह पूर्वकी विद्या पढीथि और मदन रूप सुभट के वादको जिन्होंने भग कर दिया था, वे गुणोंके खजाने श्रीस्थूलभद्र मुनिराज जयवान् हो ॥५॥

दूसमकालि तुलिउ जिणकप्पु, अज्जमहागिरि गुरुमाहप्पु ।
अज्जसुहत्थि थुणहु धरि भाउ, जिणि पडिबोहिउ सपइराउ ॥ ६ ॥

जिन्होंने इस दुष्पम (पचम) कालमे महाप्रभाव शाली ऐसे जिन कल्पकी तूलना करी थी, उन आर्यमहागिरि आचार्य की और जिन्होंने सप्रति राजाको प्रतिबोध देके श्रावक बनाया था, उन आर्यसुहस्तिसूरि महाराज की स्तवना हृदय में भाव धर के करो ॥६॥

सतिसूरि कयसघह सति, चउदिसि पसरिय जसु वरकित्ति ।
तासु पट्टि हरिभद्दु मुणिंदु, मोहतिमिरभरहरणदिणिंदु ॥ ७ ॥

उन के बाद सघ में शांति के करनेवाले श्रीशांतिसूरि हुए, जिनकी प्रधान कीर्ति चारों ही दिशाओं में प्रसृत थी उन के पाटपर मोहरूप अधकार के समूह को हरण करने के लिए सूर्य समान श्रीहरिभद्र मुनींद्र हुए ॥७॥

सडिलसूरि तह अज्जसमुद्दु, अज्जमगु जणकइरवचदु ।
अज्जधम्मु धर पयडिय धम्मु, भद्दगुत्तु दसिय सिवसम्मु ॥ ८ ॥

तत्पश्चात् भव्य जीव रूपी कमलो को विकसित करने के लिये चन्द्र तुल्य आर्य-सडिलसूरि तथा आर्यसमुद्रसूरि और आर्य मगुसूरि हुए, बाद में पृथ्वीतल उपर प्रगटित किया है धर्म जिन्होंने ऐसे आर्य धर्मसूरि और दिखाया है शिवसुखका मार्ग जिन्होंने ऐसे भद्रगुप्तसूरि हुए ॥ ८ ॥

वयरसामि पभाविय तित्थु, अज्जरक्खिउ बोहियजणसत्थु ।
अ—दिगुरु वदहु नरहु, अज्जनागहत्थीसरु सग्हु ॥ ९ ॥

अनेक प्रकार से शासन प्रभावना करने वाले वज्रस्वामी को, समस्त कुटुम्बी आदि जन समुदाय को बोध देनेवाले आर्य रक्षितसूरि को एवं आर्यनन्दि गुरु को वन्दन करो, एवं हे मनुष्यों! आर्य नागहस्तीसूरि को स्मरण में लाओ ॥ ९ ॥

रेवयसामि सूरि खंडिल्ल, जिणि उम्मूलिय भवदुहसल्ल ।
हेमवंतु झायहु बहुभत्ति, तरहु जेम भवसायरु झत्ति ॥ १० ॥

रैवत स्वामी (रेवति मित्र सूरि) सूरि खंडिल (साडिल्याचार्य) कि—जिन्होंने भवदुःख के शल्य को जडसे उखाड दिया है, एवं हिमवन्त सूरि, इन सब का बहुत भक्तिसे ऐसा ध्यान धरो जिससे भवसमुद्र को जल्दी तर जाओ ॥ १० ॥

नागऽज्जोयसूरि गोविंद, भूइदिन्न लोहिच्च मुणिंद ।
दुसमसूरि उम्मासयसामि, तह जिणभद्दसूरि पणमामि ॥ ११ ॥

आर्य नागसूरि, गोविन्द वाचक, भूतदिन्नाचार्य, लौहित्याचार्य मुनीन्द्र, दुःषमसूरि, उम्मासय स्वामी (उमास्वाति वाचक) तथा जिनभद्र (गणिक्षमाश्रमण) सूरि को प्रणाम करता हूं ॥ ११ ॥

सिरिहरिभद्दसूरि मुणिनाहु, देवभद्दसूरिव जुगबाहु ।
नेमिचंद चंदुज्जलकित्ति, उज्जोयणसूरि कंचणदित्ति ॥ १२ ॥

मुनियों के नाथ श्रीहरिभद्र सूरि एवं अपने युगमें बाहु (भुजा) समान श्रीदेवभद्र सूरिवर और चन्द्रसम उज्ज्वल कीर्ति वाले नेमिचन्द्र सूरि, कञ्चन के सदृश दीप्ति (कांति) वाले उद्द्योतन सूरि हुए ॥ १२ ॥

पयडिय सूरिमंतमाहप्पु, रूवि झाणि निज्जियकंदप्पु ।
कुंदुज्जलजसभुमियभवणु, सलहहु वद्धमाणसूरियणु ॥ १३ ॥

जिन्होंने सूरिमन्त्र का माहात्म्य प्रगट किया है, रूप व ध्यान से कन्दर्प (कामदेव) को जीतलिया है, कुन्दके फूल के समान उज्ज्वल यशसे समग्र भुवन (लोक) को भूषित किया है, उन सूरिरत्न श्रीवर्द्धमानसूरिजी की प्रशंसा करो ॥ १३ ॥

अणहिल्लपुरि दुल्लहअत्थाणि, जिणेसरसूरि सिद्धंतु वखाणि ।
चउरासी आयरिय जिणेवि, लिउ जसु वसहिमग्गु पयडेवि ॥ १४ ॥

उनके शिष्य आचार्य श्रीजिनेश्वरसूरि हुए कि—जिन्होने अणहिलपुर पाटण में दुर्लभ राजाकी सभा में सिद्धान्तके सत्यार्थ प्रकाशन द्वारा चौरासी (गच्छ के चैत्यवासी) आचार्यों को जीतकर वसति वास के मार्ग [illegible] से यश प्राप्त किया था ॥ १४ ॥

जिणि विरईय कहा संवेग रंगसाला तह सत्थ अणेग ।
नियदेसण रंजिय नरराय, तसु जिणचंदसूरि सेवहु पाय ॥ १५ ॥

जिन्होंने संवेगरङ्गशाला कथा तथा (क्षपक शिक्षा प्रकरण आदि) अनेक शास्त्रोंकी रचना करी और अपनी देशना से राजाओं को भी रञ्जित किये, उन श्रीजिनचन्द्र सूरिजी महाराज के चरणों की सेवा करो ॥ १५ ॥

वर नवअंगवित्ति उद्धरणु, थंभणिपास पयड पुक्करणु ।
अभयदेवसूरि मुणिपवराउ, दिसि दिसि पसरिय जसु जसवाउ ॥ १६ ॥

उनके पाट पर उन्हींके छोटे गुरुभाइ एवं मुनिवरो के राजा श्रीअभयदेवसूरिजी हुए कि जिन्होंने ठाणांगादि नवअंग सूत्रों पर वृत्तिकी रचना करी, एवं स्तंभन पुर (खेडा के पास में आये थांभणा गांव) में स्तंभन पार्श्वनाथ प्रभुकी प्रतिमा प्रगट करी, इसी कारण जिनका यशोवाद दिशोदिशि में प्रसृत था ॥ १६ ॥

नंदि--न्हवणु--बलि रह- सुपइट्ठ- तालारासु जुवइ मुणिसिट्ठ ।
निसि जिणहरि जिणि वारिय अविहि, थुणहु सु जिणवल्लहसूरि सुविहि १७

रात्रि के समय जिनमन्दिर मे नन्दि (दीक्षा) विधि का करना, स्नात्रोत्सव, बलि प्रदान (नैवेद्यादि चढ़ाना या बलि बाकुलादि उछलना), रथ भ्रमण, प्रतिष्ठा, तालियाँ बजाते हुए रासगाना और स्त्रियों आकर एकत्र होतीं इत्यादि अविधि कर्त्तव्य, जो कि उत्तम मुनियों से सर्वथा निषिद्ध है, उनका जिन्होंने सर्वथा निषेध किया था और पूर्व महर्षियोंने बताये उत्तम विधिमार्ग का खूब जोरोंसे प्रचार किया था, उन मुनिश्रेष्ठ श्रीजिनवल्लभसूरिजी महाराज की स्तवना करो ॥ १७ ॥

जोइणिचक्कु उज्जेणिय जेण, बोहिउ जिणि नियझाणबलेण ।
सासणदेवि कहिउ जुगपवरु, सो जिणदत्तु जयउ गुरु पवरु ॥ १८ ॥

उज्जयनी नगरी में जिन्होंने अपने ध्यान बलसे योगिनी चक्र (६४ योगिनीयों) को जीतकर धर्म बोध दिया था और जिनको शासनदेवी (अम्बिका) ने युगप्रधान कहे थे वे उत्तम गुरुदेव श्रीजिनदत्तसूरिजी महाराज जयवंते रहो ॥ १८ ॥

सहजरूवि निज्जियअमरिंद, जिणि पडिबोहिय सावयविंद ।
पंचमहव्वयदुद्धरधरणु, णंदउ जिणचंदसूरि मुणिरयणु ॥ १९ ॥

जिन्होंने अपने स्वभाविक रूप से इन्द्र को भी जीत लिया हो वैसे अनुपम रूप सम्पदावाले, संख्या बंध श्रावकों को प्रतिबोध देने वाले, बड़ी ही कठिन रीतिसे पञ्च

महा व्रतोंको धारण करने वाले, मुनियों में रत्न समान मणिधारी श्रीजिनचन्द्र सूरिजी महाराज समृद्धिमान् हो ॥ १६ ॥

अजयमेरि नरवइपच्चक्खि, करि विवाउ बुहयणजणसक्खि ।
जिणि पउमप्पहु लिउ जयपत्तु, जिणवइसूरि जयउ सुचरित्तु ॥२०॥

जिन्होंने अजमेर में राजा के समक्ष बुधजन (पण्डित) जनोंकी साक्षी से विवाद करके पद्मप्रभ उपाध्यायको जीतकर जयपताका प्राप्त किया था, वे उत्तमचारित्रवान् श्रीजिनपतिसूरिजी महाराज जयवते हो ॥२०॥

नयरि नयरि जिणमंदिर ठविय, तोरण--डंड—कलस—धजसहिय ।
तेवीसा सउ दिक्खिय साहु, जिणेसरसूरि जयउ गणनाहु ॥ २१ ॥

शहरो शहर मे तोरण, ध्वजदण्ड, ध्वजा, कलश सहित जिनमन्दिरों की स्थापना कराने वाले, एकसो तेवीस साधुओंको दीक्षा देनेवाले, गणनाथ श्रीजिनेश्वरसूरिजी महाराज जयवान् हो॥ २१ ॥

तसु पयपउमुज्जोयणु भाणु, जसनिम्मलू गुणगणह निहाणु ।
जुगपवरागम ससयहरणु, जिणपबोहसूरि सुहगुरुसरणु ॥ २२ ॥

उनके चरण कमल में उद्योतनशील (अतिशय प्रकाशवान्) सूय समान और निर्मल यशके धारक, गुण गणके निधान, अपने समय में उत्तम आगम ज्ञान के धारक भव्यात्माओं के संशयों को हटाने वाले शुभगुरु श्री प्रबोधसूरिजी महाराज भव्य जीवोंको शरण हो ॥ २२ ॥

तसु पट्टुद्धरु गुरु मुणिरयणु, मयणविणासणु सिवसुहकरणु ।
भवियलोयजणमणआणंदु, संपइ जुगपहाणु जिणचंदु ॥ २३ ॥

उनके पाटको अतिशयपणे धारण करने वाले, मदन का विनाश करने वाले, शिव-सुखके करने वाले, मुनियों में रत्न समान, युगप्रधान श्रीजिनचन्द्रसूरि गुरु महाराज भव्य लोगोंके मनको आनन्दित करते हुए सम्प्रति (वर्त्तमान) कालमें विजयमान हो ॥२३॥

इय इत्थिय सुहगुरु आमनइ, 'जिणचंदसूरि जुगवर जो मनइ ।
सुजिउ रमइ सासयसिवनारि, [illegible] पडइ इत्थ संसारि ॥

जिणि विरईय कहा संवेग रगसाला तह सत्थ अणेग ।
नियदेसण रंजिय नरराय, तसु जिणचंदसूरि सेवहु पाय ॥ १५ ॥

जिन्होंने संवेगरङ्गशाला कथा तथा (क्षपक शिक्षा प्रकरण आदि) अनेक शास्त्रोंकी रचना करी और अपनी देशना से राजाओं को भी रंजित किये, उन श्रीजिनचन्द्र सूरिजी महाराज के चरणो की सेवा करो ॥ १५ ॥

वर नवअंगवित्ति उद्धरणु, थंभणिपास पयड पुक्करणु ।
अभयदेवसूरि मुणिवरराउ, दिसि दिसि पसरिय जसु जसवाउ ॥ १६ ॥

उनके पाट पर उन्हींके छोटे गुरुभाइ एवं मुनिवरों के राजा श्रीअभयदेवसूरिजी हुए कि जिन्होंने ठाणांगादि नवअंग सूत्रों पर वृत्तिकी रचना करी, एवं स्तंभन पुर (खेडा के पास मे आये थांभणा गांव) में स्तंभन पार्श्वनाथ प्रभुकी प्रतिमा प्रगट करी, इसी कारण जिनका यशोवाद दिशोदिशि मे प्रसृत था ॥ १६ ॥

नंदि--न्हवणु--बलि--रहु- सुपइट्ठ--तालारासु जुवइ मुणिसिट्ठ ।
निसि जिणहरि जिणि वारिय अविहि, थुणहु सु जिणवल्लहसूरि सुविहि १७

रात्रि के समय जिनमन्दिर मे नन्दि (दीक्षा) विधि का करना, स्नात्रोत्सव, बलि-प्रदान (नैवेद्यादि चढाना या बलि बाकुलादि उछलना), रथ भ्रमण, प्रतिष्ठा, तालियां बजाते हुए रासगाना और स्त्रियों आकर एकत्र होती इत्यादि अविधि कर्त्तव्य, जो कि उत्तम मुनियों से सर्वथा निषिद्ध हैं, उनका जिन्होंने सर्वथा निषेध किया था और पूर्व महर्षियोंने बताये उत्तम विधिमार्ग का खूब जोरोंसे प्रचार किया था, उन मुनिश्रेष्ठ श्रीजिनवल्लभसूरिजी महाराज की स्तवना करो ॥ १७ ॥

जोइणिचक्कु उज्जेणिय जेण, बोहिउ जिणि नियझाणबलेण ।
सासणदेवि कहिउ जुगपवरु, सो जिणदत्तु जयउ गुरु पवरु ॥ १८ ॥

उज्जयनी नगरी में जिन्होंने अपने ध्यान बलसे योगिनी चक्र (६४ योगिनीयों) को जीतकर धर्म बोध दिया था और जिनको शासनदेवी (अम्बिका) ने युगप्रधान कहे थे वे उत्तम गुरुदेव श्रीजिनदत्तसूरिजी महाराज जयवते रहो ॥ १८ ॥

सहजरूवि निज्जियअमरिंद, जिणि पडिबोहिय सावयविंद ।
पंचमहव्वयदुद्धरधरणु, णदउ जिणचंदसूरि मुणिरयणु ॥ १९ ॥

जिन्होंने अपने स्वाभाविक रूप से इन्द्र को भी जीत लिया हो वैसे अनुपम रूप सम्पदावाले, संख्या बध श्रावकों को प्रतिबोध देने वाले, बडी ... रीतिसे पञ्च

धारण करने वाले, मुनियों मे रत्न समान मणिधारी श्रीजिनचन्द्र सूरिजी सदा समृद्धिमान् हो ॥ १९ ॥

अजमेरि नरवइपच्चक्खि, करि विवाउ बुहयणजणसक्खि ।
जिणि पउमप्पहु लिउ जयपत्तु, जिणवइसूरि जयउ सुचरित्तु ॥२०॥

जिन्होंने अजमेर में राना के समक्ष बुधजन (पण्डित) जनोंकी साक्षी से विवाद करके पद्मप्रभ उपाध्यायको जीतकर जयपताका प्राप्त किया था, वे उत्तमचारित्रवान् श्रीजिनपतिसूरिजी महाराज जयवंते हो ॥२०॥

नयरि नयरि जिणमंदिर ठविय, तोरण--डंड—कलस—धजसहिय ।
तेवीसा सउ दिक्खिय साहु, जिणेसरसूरि जयउ गणनाहु ॥ २१ ॥

शहरो शहर में तोरण, ध्वजदण्ड, ध्वजा, कलश सहित जिनमन्दिरों की स्थापना कराने वाले, एकसो तेवीस साधुओंको दीक्षा देनेवाले, गणनाथ श्रीजिनेश्वरसुरिजी महाराज जयवान् हो ॥ २१ ॥

तसु पयपउमुज्जोयणु भाणु, जसनिम्मलू गुणगणह निहाणु ।
जुगपवरागम संसयहरणु, जिणपवोहसूरि सुहगुरुसरणु ॥ २२ ॥

उनके चरण कमल में उद्योतनशील (अतिशय प्रकाशवान्) सुय समान और निर्मल यशके धारक, गुण गणके निधान, अपने समय में उत्तम आगम ज्ञान के धारक भव्यात्माओं के संशयों को हटाने वाले, शुभगुरु श्री प्रबोधसूरिजी महाराज भव्य जीवोंको शरण हो ॥ २२ ॥

तसु पट्टुद्धर गुरु मुणिरयणु, मयणविणासणु सिवसुहकरणु ।
भवियलोयजणमणआणदु, संपइ जुगपहाणु जिणचंदु ॥ २३ ॥

उनके पाटको अतिशयपणे धारण करने वाले, मदन का विनाश करने वाले, शिव-सुखके करने वाले, मुनियों में रत्न समान, युगप्रधान श्रीजिनचन्द्रसूरि गुरु महाराज भव्य लोगोंकि मनको आनन्दित करते हुए सप्रति (वर्त्तमान) कालमें विजयमान हो ॥२३॥

इय इच्चिय सुहगुरु आमनइ, 'जिणचंदसूरि जुगवर जो मनइ ।
सुजिउ रमइ सासयसिवनारि, वलवि न पडइ इत्थ संसारि ॥ २४ ॥

इस प्रकार इतनी शुभगुरु आम्नाय (परम्परा) से प्राप्त युगप्रधान श्री जिनचन्द्र सूरि जी को जो मानता है वह जीव शाश्वती (सदाकाल रहनेवाली) शिवनारी (मोक्षश्री) से रमण करता है और फिर से यहां संसार मे नहीं पड़ता ॥ २४ ॥

जक्खिणि जक्ख बिउण चउवीस, विज्जादेवि चहूणी वीस ।
इय चउठि मिलि देहि असीस, जिणचंदसूरि जिउ कोडिवरीस ॥२५॥

यक्षिणी व यक्ष दुगुने चौबीस (४८), याने २४ तीर्थंकर देवोंका अधिष्ठाता देवियां, २४ और देव २४ मिलकर ४८, एवं दो कम बीस याने १६ विद्यादेवियां, से सब कुमले चौंसठ ही मिलकर आशीर्वाद देवें कि—श्रीजिनचन्द्र सूरिजी महाराज क्रोड़ वर्ष जीवते रहो। ॥ २५ ॥

संघसहिउ फेरू इम भणइ, इत्तिय जुगपहाण जो थुणइ ।
पढइ गुणइ नियमणि सुमरेवइ, सो सिवपुरि वररज्जु करेइ ॥ २६ ॥

श्री संघ सहित फेरू (ग्रंथकर्त्ता) इस प्रकार कहता है कि—इतने युग प्रधानों को जो स्तवता है और उनके गुणानुवाद रूप इस चतुष्पदिका को जो पढ़ता है गुणता है व निजमनमें स्मरण करता है वह शिवपुर (मोक्षनगर) में उत्तम राज्य करता है ॥ २६ ॥

तेरह—सइतालइ (१३४७) महमासि, रायसिहरवाणारिय पासि ।
चंदतणुब्भवि इय चउपइय, कन्नाणइ गुरुभत्तिहि कहिय ॥ २७ ॥

विक्रम संवत १३४७ के माघ मासमें 'कन्नाणय' नगरमें वाचनाचार्य श्रीराजशेखर के पास रहते हुए चन्द्रनामक शेठ के पुत्र "फेरू" ने यह चौपाई कही ॥ २७ ॥

सुरगिरि पंच दीव सव्वेवि, चंद सूर गह, रिक्ख जि केवि ।
रयणायर धर अविचल जाम, संघु चउव्विहु नंदउ ताम ॥ २८ ॥

मेरु पर्वत, पंचद्वीप, चन्द्र-सूर्य ग्रह नक्षत्रादि तथा समुद्र व पृथ्वी आदि जो कुछ भी जगतके पदार्थ हैं वे सभी जहांतक अविचल रहे वहांतक चारों ही प्रकारका संघ समृद्धमान् रहो ॥ २८ ॥

जि—णपवोहगुरुरायचरणपकयवरअलिबलु,
न—वविजियदयकरणु मयणगयसिंहमहाबलु,
चं—दुज्जलु गुणविमलु कत्ति दसदिसिहि पसिद्धउ,
द—वणु पणिंदिय चउकसाय गुणगणिहि समिद्धउ ।
सू—रिंदु पणयप्पणजणसहिउ वछिउ सुहियण निरु रनहु,
रि—उमतरंगमय अवहरणु पयपढमक्खरि गुरु सरहु ॥ १ ॥ इति

जिन प्रबोध सूरि गुरुराज के चरण कमल मे उत्तम भ्रमर समान बलवाले, नवविध भावदयाके करने वाले, मदन रूप गजका भजन करनेके लिये सिंह सदृश महा बलवान, चन्द्र समान उज्ज्वल गुणोंसे विमल, कीर्तिसे दशों दिशाओं में प्रसिद्ध, पांच इन्द्रियोंका व चार कषायों का दमन करने वाले, गुणगणसे समृद्ध, सूर्य चन्द्रसम प्रताप व सौम्यवान्, प्रणतात्म (नम्रतासे शिष्यादि) जनोसे सहित, सुचि (मित्र) जनोंसे वांछित, मदमानादि अन्तरग शत्रुओंको हटाने वाले, और इस षट्पदी वृत्तके प्रत्येक चरणके प्रथमाक्षर से जिनका नाम प्रगट होता है, उन गुरुदेव जिनचन्द्र सूरिजी को हे मनुष्यों ! निश्चित भावसे स्मरण करो ॥१॥ इति

॥ इति युगप्रधानचतुष्पदिका समाप्ता ॥



